प्राक्कथन

हिन्दी के आधुनिक युग का आरम्भ भारतेन्दु-युग से होता है। पर भारतेन्दु-युग में भारतेन्दु जी के सिवा अन्य किसी महाकवि के दर्शन नहीं होते, न उस युग के साहित्य में अपेक्षित प्रौढ़ता के ही दर्शन होते हैं। भारतेन्दु-काल की समाप्ति के पश्चात् द्विवेदी-युग के पदार्पण के साथ साहित्य में पूर्ण प्रौढ़ता के दर्शन होने लगते हैं।

द्विवेदी-युग के पं० अयोध्यासिंह आदि महाकवियों ने खड़ीबोली को खराद पर चढ़ाकर—उसे घिस-घिस कर काव्य के लिए उपयोगी बना दिया था। उसमें लालित्य और सौकुमार्य प्रतिष्ठित किया छाया-वादी कवियों ने : प्रसाद ने उसे प्राञ्जलता दी, निराला उसके स्वर और ताल को ठीक करने लगे, पन्त ने उसे माधुर्य और सौकुमार्य से समन्वित किया और महादेवी ने हृदय की वेदनाओं के द्वारा उसे स्पन्दित कर दिया। इन छायावादी कवियों में अनेक साम्य और वैषम्य दिखाई देते हैं। प्रसाद की भाषा में समुद्र की लहरों के समान कहीं शान्त और कहीं उद्दाम स्पन्दन है। निराला की भाषा में अखण्ड दिङ्मण्डल को गुंजा देने वाले गगनगत मेघ की गुरु-गर्जना है। पन्त की कोमल-कान्त पदावली में प्रभात की कोमल समीर की सुखद सनसनाहट और मधुर मर्मर-ध्वनि है। निराला की कविता में उद्दाम ओज और पौरुष 'प्रकट हो रहा है तो पन्त की कविता सुकोमल सुषमामयी है। निराला अतुकान्त और स्वच्छन्द छन्दों के प्रवर्तक हैं। उनकी रचनाओं में स्वच्छन्दवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा है। मुक्तछन्द व स्वच्छन्दवाद के मानो वे ही प्रतिनिधि कवि हैं, किन्तु पन्त प्रकृति के कोमल और प्रिय कवि हैं, तुकान्तता भी उन्हें प्रिय है। प्रसाद की भाषा विषयानुरूप

प्रकाशक :
भारती सदन
दिल्ली।

प्रथम बार
१९५२

द्वितीय बार
१९५४

मुद्रक :
नरेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस,
२० मॉडल बस्ती,
दिल्ली।

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक युग के सात सर्वश्रेष्ठ महाकवियों की कलाकृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिनका साहित्य में स्थान असंदिग्ध रूप से सर्वोच्च स्वीकृत हो चुका है।

आधुनिक युग के इन कलाकारों में महाकवि के रूप में सर्वप्रथम हमारे सम्मुख पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय आते हैं। 'हरिऔध' जी का 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्य खड़ीबोली का आदिमहाकाव्य तो है ही, साथ ही उनका हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में भी अपना एक विशेष स्थान है। उनका दूसरा महाकाव्य 'वैदेही-वनवास' भी हिन्दी का उत्कृष्ट काव्य है। भाषा पर उपाध्याय जी का अनुपम अधिकार था।

उपाध्याय जी के पश्चात् इस युग के महाकवियों में बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की गणना की जा सकती है। रत्नाकर जी ने इस युग में रह कर भी ब्रजभाषा के माध्यम से साहित्य-सेवा की। उनका स्थान ब्रजभाषा के अन्तिम प्रतिनिधि कवि के रूप में सदा बना रहेगा। 'उद्धव-शतक' और 'गंगावतरण' जैसे उत्कृष्ट काव्यों के द्वारा उन्होंने हिन्दी के भण्डार की श्रीवृद्धि की है।

उपाध्याय जी और 'रत्नाकर' जी के पश्चात् काल-क्रम की दृष्टि से श्रीयुत बा० जयशंकर 'प्रसाद' का नाम आता है। प्रसाद जी आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि थे। 'आँसू' और 'कामायनी' आदि छायावाद-सम्बन्धी काव्यों के रूप में उन्होंने हिन्दी-साहित्य को अनुपम रत्न प्रदान किये हैं।

प्रसाद जी के पश्चात् बा० मैथिलीशरण गुप्त का स्मरण किया जा सकता है। वे राष्ट्र के प्रमुख प्रतिनिधि कवि माने गये हैं। उन्हें राष्ट्रीय जागरण का उद्बोधक कहा गया है। 'साकेत', 'यशोधरा' 'द्वापर' आदि उनके काव्यों ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की है। वे साहित्य-निर्माण के कार्य में सतत संलग्न रहने वाले महान् कलाकार हैं। उनकी नवीनतम रचना 'जय भारत' नामक महाकाव्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे अपने कर्तव्य के प्रति सदा जागरूक हैं। 'जय भारत' में

परिवर्तनशील है। उसमें समय-समय पर सभी प्रकार के स्वरूप प्रकट होते रहते हैं। प्रसाद जी प्राचीनता के पुजारी होते हुए भी युग के साथ चलते हैं। निराला एकदम क्रान्तिकारी और स्वच्छन्दवादी कवि होते हुए भी हृदय से भारतीयता के उपासक हैं। इसके विपरीत पन्त प्रमुख रूप से प्रकृति-प्रेमी कवि ही रहे हैं, प्रगतिवाद और गाँधीवाद को सुकोमल स्पर्श देकर आप अब अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख हैं। महादेवी आदि से अन्त तक वेदना की विरहिणी गायिका हैं।

इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रसाद, पन्त, निराला आदि कोमल प्रकृति के कलाकारों ने खड़ीबोली के अक्खड़पन को दूर कर उसे सुकोमल, कमनीय, कान्त पदावली से परिपूर्ण कर दिया। इस समय साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन के दर्शन भी होने लगे। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के छायावादी और रहस्यवादी गीतों के संकलन 'गीतांजलि' पर नोबेल-पुरस्कार प्राप्त होते ही सम्पूर्ण भारतीय सुकवि-समाज उन्हीं की भावनाओं में सोचने तथा वाणी में बोलने लग पड़ा। रहस्यवादात्मक रचनाओं के प्रचार में रविबाबू का प्रभाव तो प्रत्यक्ष है, साथ ही उसका एक दूसरा भी कारण स्पष्ट है कि द्विवेदी-कालिक काव्य में इतिवृत्तात्मकता या उपदेशात्मकता की ही प्रधानता थी। ऐसी परिस्थिति में साहित्य के किसी नवीन रूप का प्रकट होना आवश्यक और स्वाभाविक था। अतः कहा जा सकता है कि साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद की अवतारणा द्विवेदीकाल की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। छायावाद व रहस्यवाद के इस काल में राष्ट्र-चेतना भी कुछ समय के लिए फिर से सुप्त-सी हो गई थी, अतः अन्य प्रवृत्तियों की अपेक्षा प्रकृति के नाना रूपों में प्रियतमा का साक्षात्कार या लौकिक प्रेयसियों के वियोग में विरहानल अथवा निराशा व वेदना के भाव ही प्रमुख पद प्राप्त कर बैठे।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन !

कवि-नामावली

महाभारत की कथा अंकित की गई है। श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि पात्र अपने मुख से अपने चरित्र और कार्यों की समीक्षा करते हैं। इस प्रकार 'जय भारत' को भी 'यशोधरा' और 'द्वापर' की श्रेणी में रख सकते हैं।

गुप्त जी के पश्चात् सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को स्थान दिया गया है। अतुकांत मुक्त छन्द और भाषा की ओजस्विता इनके काव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त ने खड़ीबोली को सर्वाधिक कोमलता प्रदान की।

श्रीमती महादेवी वर्मा रहस्यवाद की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री के रूप में स्वीकृत हो चुकी हैं।

यह सातों कलाकार आधुनिक युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के परिचालक एवं प्रतिनिधित्व करने वाले महाकवि के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। वास्तव में यह सप्तक आधुनिक हिन्दी-कलाकारों का मूर्धन्य है। अतः इन्हीं सातों की कलाकृतियों का यहाँ समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

इन सातों कवियों के सम्बन्ध में समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाली किसी ऐसी रचना की परमावश्यकता अनुभव की जा रही थी जिसमें इनकी समग्र रचनाओं का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन प्रस्तुत किया गया हो। इस पुस्तक में इन सभी कवियों की प्रत्येक रचना का सामान्य रूप से समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनकी विशिष्ट रचनाओं पर विशेष प्रकाश डाला गया है। आशा है, उच्च श्रेणी के छात्रों के लिए इस दृष्टि से यह पुस्तक परमोपयोगी प्रमाणित होगी।

—भवानीशंकर त्रिवेदी

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जन्म संवत् १६२२ देहान्त संवत् २००२

वर्तमान युग के सुविख्यात महाकवि श्री पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया संवत् १६२२ को निज़ामाबाद, ज़िला आज़मगढ़, उत्तरप्रदेश में एक ब्राह्मण-वंश में हुआ। उनके वंश में कई पीढ़ियों से सिक्ख-धर्म के प्रति आस्था चली आ रही थी। उपाध्याय जी के पिता पं० भोलासिंह जी कोई विशिष्ट विद्वान् तो नहीं थे पर उनके चाचा पं० ब्रह्मासिंह ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे। 'हरिऔध' जी की आरम्भिक शिक्षा उन्हीं की देख-रेख में हुई। तात्कालिक प्रथा के अनुसार उनको प्रारम्भ में फ़ारसी पढ़नी पड़ी। सं० १६३६ में ससम्मान मिडिल परीक्षा पास कर छात्र-वृत्ति प्राप्त कर वे काशी क्वीन्स कालेज में प्रविष्ट हुए, पर अस्वस्थता के कारण कालेज छोड़कर उन्हें घर पर ही फ़ारसी, उर्दू, संस्कृत आदि का अध्ययन करना पड़ा। संवत् १६३६ में उनका विवाह हो गया। उनका आरम्भिक जीवन आर्थिक संकट से भरा हुआ था, इसलिए संवत् १६४१ में उन्होंने स्कूलमास्टरी की नौकरी कर ली। कुछ समय पश्चात् कानूनगो के पद पर कार्य कर अपनी योग्यता से वे सदर कानूनगो बन गये। इस पद पर चौंतीस वर्ष तक कार्य कर उन्होंने पेन्शन ले ली और शेष जीवन साहित्य-सेवा के लिए समर्पित कर दिया। सं० १६८० से वे हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक-पद पर कार्य करने लगे। यहाँ पर सं० १६६८ तक बड़ी योग्यता से कार्य

(१) महाकाव्य—प्रियप्रवास और वैदेही-वनवास।

(२) स्फुट काव्य-संग्रह—रुक्मणी-परिणय, प्रद्युम्न-विजय, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, रस-कलश, पद्य-प्रसून, पारिजात, ऋतु-मुकुर, काव्योपवन, प्रेम-पुष्पोपहार, प्रेम-प्रपंच, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बु-प्रवाह, प्रेमाम्बु-वारिधि।

(३) उपन्यास—अधखिला फूल और ठेठ हिन्दी का ठाठ।

(४) आलोचनात्मक—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, कबीर-वचनावली की आलोचना।

उक्त नामावली से विदित होता है कि उपाध्याय जी ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार गद्य, पद्य, मौलिक और अनुवाद, ब्रजभाषा और खड़ीबोली तथा सभी रसों के सजीव वर्णन आदि अनेक क्षेत्रों में दिखाकर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया कि उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में विचरण करते हुए किसी प्राचीन पथ का अनुसरण न कर अपने मार्ग का स्वयं निर्माण किया। इस दृष्टि से उपाध्याय जी का स्थान भारतेन्दु जी और प्रसाद जी के समकक्ष कहा जा सकता है। उनके महाकाव्यों का तो हिन्दी-साहित्य के गौरवशाली ग्रन्थों में अपना विशेष स्थान है ही, साथ ही इनके स्फुटकाव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' में मुहावरों का चमत्कार ही नहीं, भावों का उद्दाम वेग भी दर्शनीय है। 'चोखे चौपदे' केवल भाषा की कलाबाज़ियाँ दिखाने के लिए नहीं लिखे गये, उनमें राष्ट्रीय, सामाजिक, दार्शनिक आदि अनेक गुत्थियों को सुलझाने का सफल प्रयत्न भी किया गया है।

उपाध्याय जी ने कविताओं के लिए अपना उपनाम 'हरिऔध' रख छोड़ा है, जो 'अयोध्यासिंह' का संक्षिप्त रूप है: हरि=सिंह, औध=अयोध्या; इस प्रकार 'अयोध्यासिंह' का संक्षिप्त रूप 'हरिऔध' बनता

करने के पश्चात् अवकाश ग्रहण कर वे आज़मगढ़ में ही रहने लगे। वहीं पर आपका चैत्र सं० २००२ में देहान्त हो गया।

उपाध्याय जी का जीवन प्राचीन युग के ऋषियों के समान सरल था। उनके भाई गुरुसेवकसिंह इंग्लैंड जाकर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हो गये थे, पर उपाध्याय जी आजन्म प्राचीन पंडिताऊ परिपाटी का पालन करते रहे। उनके स्वभाव में कृत्रिमता और चांचल्य की भावना नहीं थी। वे कोमल और उदार प्रकृति के भावुक भक्त थे। भारतीय संस्कृति व सभ्यता के वे पक्के पुजारी थे। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् उनकी गम्भीरता और विरक्ति की भावना बहुत बढ़ गई थी। वे प्रभावशाली वक्ता और समर्थ समालोचक भी थे। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सं० १९८० में सम्पन्न हुए दिल्ली-अधिवेशन के सभापति-पद को भी उन्होंने सुशोभित किया था। सं० १९९५ में 'प्रियप्रवास' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ और सम्मेलन ने 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि से भी उन्हें विभूषित कर अपनी शोभा बढ़ाई। उनके इकलौते पुत्र पं० सूरज-नारायण जी आज़मगढ़ में रहते हैं।

उपाध्याय जी की रचनाओं को (१) अनूदित और (२) मौलिक इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। अनूदित रचनाएँ गद्य और पद्य इन दोनों रूपों में प्राप्त होती हैं। गद्य में 'वेनिस का बाँका' अनूदित उपन्यास है। 'रिपवान विंकिल' उर्दू उपन्यास का रूपान्तर है। 'नीति-निबन्ध' में कई अनूदित निबन्ध संकलित किये गये हैं। 'गुलिस्ताँ' के आठवें अध्याय का अनुवाद 'उपदेश-कुसुम' में किया गया है और 'गुलज़ार दबिस्ताँ' को 'विनोदवाटिका' के रूप में रूपान्तरित किया गया है। उपाध्याय जी की मौलिक रचनाओं को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

रूप में, भाषा के तीनों आदर्शों के नमूने देना चाहते थे। इस उद्देश्य में वे पूर्णरूपेण सफल हुए हैं।

उपाध्याय जी आरम्भ से अन्त तक प्रमुखतया कवि के रूप में साहित्य-साधना करते रहे। उनकी आरम्भिक रचनाएँ दोहों में हैं। एक दोहा देखिए—

जाकी माया-दाम में बँधे विरंचि लखाहिं।
प्रेम-डोरि गोपिन बँधे सो डोलत जग माहिं॥

ऐसे दोहे वे सत्रह वर्ष की अवस्था में ही लिखने लगे थे। बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'रुक्मणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय' व्यायोग लिख डाले। 'प्रेमाम्बु-वारिधि', 'प्रेमाम्बु-प्रस्रवण' और 'प्रेमाम्बु-प्रवाह' नामक तीन संग्रह संवत् १९५६ में प्रकाशित हुए। 'रस-कलश' की भूमिका भी शृङ्गार-सिंदूर के रूप में उसी समय लिखी जा चुकी थी। 'प्रेम-प्रपञ्च' भी उसी समय की रचना है। आगे चल कर काव्योपवन में 'शृङ्गार-सिंदूर' को छोड़ कर बाकी 'प्रेमाम्बु-प्रवाह' आदि चारों काव्यों का संग्रह कर दिया गया। संवत् १९३९ से १९५६ तक की उपाध्याय जी की यह साहित्य-साधना भारतेन्दु-प्रवर्तित प्रचार-युग में ही सम्पन्न हो चुकी थी।

चौपदों के पश्चात् 'हरिऔध' जी की दूसरी प्रसिद्ध रचना है— 'रस-कलश'। 'रस-कलश' यद्यपि एक रीति-ग्रन्थ है तथापि अलङ्कारों के चमत्कार-प्रदर्शन के फेर में पड़ कर या रस के प्रवाह में वह कर 'हरिऔध' जी ने कहीं पर भी भाषा के सौष्ठव पर आघात नहीं किया और न विषय के संतुलन को ही बिगड़ने दिया। प्रत्येक रस को उचित स्थान देते हुए हृदयस्पर्शी उदाहरणों द्वारा उसकी विस्तृत व्याख्या की गई है।

नायिका-वर्णन में अपनी सुधारवादी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर

है ! इस 'हरिऔध' शब्द में एक विचित्र विलक्षणता और विचक्षणता के साथ रहस्यात्मकता भी छिपी हुई है। 'हरिऔध' जी ने आधुनिक साहित्य के (१) प्रचार-युग, (२) संस्कार-युग, (३) सौकुमार्य-युग, (४) प्रगति-युग—इन चारों युगों में साहित्य-साधना की है। युग की भावनाओं और आवश्यकताओं का आदर करते हुए और परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको ढालते हुए भी वे इन चारों युगों में किसी के अनुयायी नहीं रहे। उन्होंने सरस्वती की साधना सदा अपने ही ढँग से की। आरम्भ में तो वे एक ऐसी शैली के प्रवर्तक रहे, जिसका अनुकरण अनेक कलाकारों के द्वारा होता रहा। इनके द्वारा प्रचारित वर्ण-वृत्तात्मक शैली का कुछ एक परवर्ती कलाकारों ने सक्षम विरोध भी किया और आज उस शैली के दर्शन कहीं-कहीं ही होते हैं। पर एक युग तक उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' की भाषा और शैली की खड़ीबोली के साहित्य पर पूरी धाक जम रही थी, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इस दृष्टि से उपाध्याय जी का खड़ीबोली के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है। वे अपने युग के स्रष्टा थे। उपाध्याय-स्कूल के अनेक कलाकारों ने हिन्दी को दिव्य रचना-रत्न प्रदान किये हैं।

यद्यपि वे अपने पद्य के नाते ही प्रसिद्ध हैं पर उनका गद्य भी पर्याप्त प्रौढ़ है। 'कबीर-ग्रन्थावली' तथा 'प्रियप्रवास' की भूमिका व 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थों से उनकी आलोचना-शक्ति, अध्ययनशीलता और सारग्राहिणी प्रतिभा का स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है। 'रिपवान-विंकल', 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल' तथा 'वेनिस का बाँका'—ये चारों उपन्यास उपाध्याय जी ने संस्कार-युग के आरम्भिक दिनों में लिखे थे। इन उपन्यासों के लिखने का उद्देश्य औपन्यासिक कला का निखरा हुआ रूप प्रस्तुत करना नहीं था। 'हरिऔध' जी इन रचनाओं के द्वारा खड़ीबोली-गद्य की तत्सम-प्रधान, मुहावरेदार तथा सरल बोलचाल की भाषा के

पूर्ण प्रयत्न किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। और जहाँ तक महाकाव्य के बाह्य रूप का सम्बन्ध है, 'प्रियप्रवास' सचमुच एक सफल महाकाव्य लक्षित होता है। किन्तु इस स्थूल ढाँचे को छोड़ कर आन्तरिक महत्त्व की दृष्टि से विचार करने पर हमारी उक्त धारणा को कुछ ठेस-सी लगती है। कारण यह है कि इस काव्य में घटना-क्रम बड़ा ही शिथिल-सा है। शिथिल क्या, यूँ कहें कि एक प्रकार से है ही नहीं, केवल दो ही प्रमुख घटनाओं के सहारे इस महाकाव्य का चक्र घूम रहा है। कृष्ण का मथुरा-गमन और उद्धव का व्रज-आगमन—इन्हीं दोनों घटनाओं के चक्रों पर महाकाव्य रूपी रथ स्थिर है। वह स्थिर ही है, गतिशील नहीं। महाकाव्य में मार्मिक स्थलों की पहचान अत्यावश्यक है; मार्मिक स्थलों का विशद वर्णन होना चाहिए। किन्तु 'प्रियप्रवास' में कोई विशेष स्थल ही नहीं है, फिर मार्मिक क्या और साधारण क्या, और पहिचान भी की जाय तो किसकी! श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन को समग्रतया अंकित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है पर वह दूसरे पात्रों के मुख से कहला कर। उसका प्रबन्धकाव्य के मूल कथानक से कोई संबन्ध नहीं है। यदि कोई गोप-गोपी किसी घटना को छोड़ भी जाते तो भी किसी को कुछ कहने का अवसर नहीं था। किसी एक घटना के वर्णन की तो बात ही क्या, सप्तम सर्ग के पश्चात् आप पूरे-के-पूरे एक या दो, जितने चाहें, सर्गों को हटा दीजिए, इससे रस-संचार या कथा के प्रवाह में कुछ शिथिलता नहीं आयेगी। घटनाओं के वर्णन-मात्र का नाम महाकाव्य नहीं है। उसमें एक क्रमबद्धता और संगठित संगति भी होनी चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर 'प्रियप्रवास' एक पूर्ण-प्रबन्धकाव्य नहीं प्रतीत होता। उपाध्याय जी ने स्वयं भी इसके महाकाव्य होने के सम्बन्ध में आन्तरिक आशंका को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है—

देश-प्रेमिका, धर्म-प्रेमिका आदि नायिकाओं की नवीन उद्भावना की है। ऋतु-वर्णनों में अपनी निरीक्षणात्मक प्रतिभा का भी परिचय दिया है। नर-नारियों के स्वाभाविक आकर्षण के, शारीरिक एवं मानसिक पृष्ठभूमि पर हृदयहारी किन्तु संयत चित्र अंकित किये गये हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि दोहों और घनाक्षरी छन्दों में निर्मित यह रस-ग्रन्थ भाव, भाषा और मौलिकता की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त उपाध्याय जी की कमनीय कीर्ति का कलिततम समुन्नत केतु तो 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्य है। इसकी रचना भी संस्कार-युग के आरम्भ संवत् १९६७ में ही हुई थी। मुक्तकों पर संक्षिप्त विचार कर लेने के पश्चात् अब यहाँ 'प्रियप्रवास' के सम्बन्ध में कुछ विचार किया जाता है।

प्रियप्रवास

'प्रियप्रवास' का महाकाव्यत्व—

'प्रियप्रवास' में महाकाव्य का साहित्यदर्पणोक्त लक्षण पूर्णतया घटित होता है। इसमें सत्रह सर्ग हैं। द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीडित, वंशस्थ, वसंततिलका, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी—इन ७ छन्दों का इसमें प्रयोग हुआ है। इसके नायक-नायिकाएँ भी जगद्विख्यात राधा व कृष्ण ऐतिहासिक महापुरुष हैं। वन, पर्वत, ऋतु, नदी, तालाब आदि प्राकृतिक दृश्यों की इसमें भरमार है। महाकाव्य के लिए आवश्यक अंगी या प्रधान रस शृङ्गार है। करुण का भी इसमें उद्दाम प्रवाह उमड़ रहा है। वीर, भयानक, शान्त आदि अन्यान्य रसों का भी इसमें सुन्दर परिपाक हुआ है। इसकी समलंकृत भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी सरल व सरस है। जीवन की अनेक दशाओं व समाज के अनेक अङ्गों का इसमें हृदयहारी वर्णन हुआ है। इस प्रकार उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' को एक सफल महाकाव्य बनाने का

किसी का कुछ ऋण नहीं है। फिर भी उनके प्रकृति-वर्णन आदि हिन्दी के श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ महाकवि की समता में उन्नीस नहीं उतरते। प्रकृति-वर्णन तो इतने रमणीय व आकर्षक हैं कि पढ़ते-पढ़ते संस्कृत काव्यों की सी छटा का अनुभव होने लगता है। प्रकृति का उन्होंने दोनों रूपों में वर्णन किया है, जिसमें उद्दीपन की अपेक्षा आलम्बन का रूप ही प्रधान रूप से लक्षित होता है। वातावरण का निर्माण करने के लिए भी उन्होंने अनेक स्थलों पर प्रकृति को अपनाया है। 'प्रियप्रवास' को एक प्रकार से प्रकृति-वर्णन-प्रधान काव्य कहें तो कोई आपत्ति न होगी। इसके प्रकृति-वर्णनों में एक विशेष क्रम लक्षित होता है। प्राकृतिक सुषमा को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक एवं आकर्षक रूप में व्यक्त कर काव्य की महत्ता को बढ़ा दिया गया है। प्रथम सर्ग का प्रारम्भ सन्ध्या की गोधूलि से होता है। द्वितीय सर्ग में दो घड़ी रात बीत चुकी है। तृतीय सर्ग में अर्द्ध रात्रि की शून्यता व्याप्त हो रही है। चतुर्थ सर्ग में ब्राह्ममुहूर्त्त की पवित्र छटा छाई हुई है। पंचम सर्ग उषा की लालिमा से अनुरंजित है। इसी प्रकार ऋतु-वर्णनों में भी एक स्पष्ट क्रम है। एकादश सर्ग में ग्रीष्म की प्रचण्ड दोपहरी का, द्वादश में वर्षा की व्यापक सरसता का, चतुर्दश में शरद् की सुषमा और षोडश में मधुमास के माधुर्य का दर्शन होता है। उपाध्याय जी के प्रकृति-वर्णनों में अनुपम सरलता, स्वाभाविकता व दिव्य सरसता है।

कुछ आलोचक नवम सर्ग में वर्णित वृक्ष-लताओं के संगठन पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि उपाध्याय जी ने विभिन्न ऋतुओं व देश-कालों में फलने-फूलने वाले वृक्ष-लतादि को एकत्रित कर प्रकृति के सूक्ष्म विश्लेषण का परिचय नहीं दिया। ऐसे आलोचकों को स्मरण रखना चाहिए कि उपाध्याय जी ने विभिन्न ऋतुओं में फलने वाले वृक्षों का उल्लेख अवश्य किया है, पर उनको एक ही समय में फला हुआ नहीं दिखाया। भिन्न ऋतुओं में फलने वाले वृक्ष एक-साथ लगे रह सकते हैं।

"महाकाव्य का आभास-स्वरूप यह ग्रन्थ सत्रह सर्गों में केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देखकर हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ सुकवियों और सुलेखकों का ध्यान इस त्रुटि के निवारण करने की ओर अग्रसर हो, आकर्षित हो।"

इस प्रकार उपाध्याय जी के अपने ही शब्दों में 'प्रियप्रवास' एक महाकाव्य नहीं प्रत्युत 'महाकाव्याभास' ही है।

इतना सब-कुछ होने पर भी हम एक बात तो अवश्य कहेंगे ही कि महाकाव्य होने या न होने से 'प्रियप्रवास' के महत्त्व में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। इसका प्रत्येक सर्ग रस का सागर है। उसमें आरम्भ से अन्त तक रस का अविच्छिन्न प्रवाह स्वतः बहता रहता है। पाठक पढ़ते-पढ़ते आत्मविभोर-सा हो जाता है। वह प्रबन्ध-काव्य-सम्बन्धी उक्त समालोचनात्मक झंझट में अपने-आपको न डालकर रसास्वादन ही में तत्पर रहता है। 'पवनदूत' की मौलिक एवं स्पृहणीय सरस कल्पना ने तो इसके सौंदर्य में चार चाँद ही लगा दिये हैं।

अतः कहना होगा कि 'प्रियप्रवास' का हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में अपना एक विशेष स्थान है और वह सहृदय पाठकों को सदा अपनी ओर आकृष्ट करता रहेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

'प्रियप्रवास' के प्रकृति-चित्रण—

'प्रियप्रवास' के चरित्रचित्रण, प्रकृति-वर्णन, भाषा व शैली सब में एक अपनी विचित्र मौलिकता है। 'प्रियप्रवास' से पूर्व खड़ीबोली में कोई महाकाव्य नहीं था, फलतः उपाध्याय जी को सब-कुछ अपनी ही ओर से लिखना पड़ा। उन्होंने अपने मार्ग का निर्माण अपनी प्रतिभा के बल पर किया। उन पर संस्कृत-कवियों के सिवा अन्य

इस एक ही कविता में नन्द बाबा का पूरा चित्र अंकित हो गया है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी की यह और विशेषता है कि वे कोई भी बात संक्षेप में नहीं कहना चाहते, प्रत्येक बात को खूब विस्तार के साथ कहते हैं। चरित्र-चित्रण या प्रकृति-वर्णन आदि में भी उनकी यह विशेषता स्पष्ट लक्षित होती है।

श्रीकृष्ण—उपाध्याय जी ने इस युग की भावना के अनुरूप अपने चरित्र-नायक श्रीकृष्ण को भी एक दिव्य महापुरुष के रूप में ही अंकित किया है। वे चाहते तो गुप्त जी की भाँति श्रीकृष्ण को असम्भवता से बचाकर भी उपास्य इष्टदेव या परब्रह्म का रूप दे सकते थे। गुप्त जी ने भी तो श्रीराम को अत्यन्त स्वाभाविक, आधुनिक युग की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले महापुरुष के रूप में अंकित करते हुए साथ-ही-साथ परब्रह्म भी रहने दिया है। उनके राम में परब्रह्म और आधुनिक विचारों के महापुरुष का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। इसके विपरीत उपाध्याय जी श्रीकृष्ण को अपना इष्टदेव नहीं मानते, अतः उन्होंने अपने श्रीकृष्ण को पूर्ण परब्रह्म के स्थान पर एक अलौकिक पथ-प्रदर्शक नेता या महापुरुष के रूप में ही अंकित किया है। 'प्रियप्रवास' को पढ़ते-पढ़ते ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग के भक्त-कवियों द्वारा कृष्ण के रूप की जो विकृति हुई थी, कृष्णचन्द्र पर अनेक प्रकार के लांछनों का कुहरा-सा छा जाने के कारण उसकी जो आभा मन्द होने लगी थी, उपाध्याय जी ने उसके निराकरण का ही इस काव्य में प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। आज के युग का कोई कट्टर-से-कट्टर सुधारक भी बाल कृष्ण के चरित्र को इससे अधिक उज्ज्वल और स्वाभाविक रूप में उपस्थित नहीं कर सकता।

उपाध्याय जी ने गोवर्धन-धारण की घटना को स्वाभाविक रूप देते हुए लिखा है कि श्रीकृष्ण ने भयङ्कर वर्षा के कारण व्याकुल लोगों को गोवर्धन-पर्वत के ऊँचे स्थान पर पहुँचाकर बाढ़ में बहने

उन्होंने कहीं पर भी समुद्र-तट पर होने वाले नारियल आदि व हिमालय में लगने वाले सेब, अखरोट आदि ऐसे फलों का वर्णन नहीं किया, जिनकी सत्ता व्रज में असम्भव हो। आम, जामुन, केला, महुआ, आँवला, बिल, नारङ्गी, नीम, बड़, अशोक, सेमल, अमरूद, बेर आदि जिन वृक्षों का वर्णन गोवर्धन-पर्वत पर किया गया है उन सब की सत्ता वहां सर्वथा सम्भव है।

अतः कह सकते हैं कि उपाध्याय जी के प्रकृति-वर्णन में संश्लिष्ट चित्रों की कमी के कारण अत्यधिक मार्मिकता भले ही न हो, पर उसमें किसी प्रकार की कोई त्रुटि या दोष नहीं है।

चरित्र-चित्रण—

उपाध्याय जी के चरित्र-चित्रण मुँह बोलते हैं। प्रत्येक पात्र की मूर्ति हमारे सामने प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाती है। यशोदा, कृष्ण, राधा, गोप, गोपी आदि सभी का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक व हृदयग्राही चित्रण हुआ है। उपाध्याय जी ने चरित्र-चित्रण करते समय प्रत्यक्ष पद्धति से काम लिया है। वे पाठकों के मस्तिष्क पर कुछ भी विशेष दबाव डाले बिना प्रत्येक कार्य व चरित्र को अभिधा-शक्ति द्वारा स्पष्ट कर देते हैं। अभिधा-शक्ति की प्रबलता के कारण उसमें लाक्षणिकता व व्यंजकता कम है। पात्रों की विभिन्न मनोदशाओं के चित्रण में तो उपाध्याय जी सिद्धहस्त हैं। नन्द बाबा कृष्ण-बलराम को मथुरा छोड़कर अकेले आ रहे हैं। उस दशा का वर्णन पढ़ते-पढ़ते पाठक को प्रतीत होता है कि मानो वह स्वयं ही अपनी बहुमूल्य वस्तु को खोकर लज्जा और शोक में मग्न-सा अपने घर की ओर आ रहा है—

लज्जा से वे प्रथित पथ में पाँव भी थे न देते,
जी होता था व्यथित हरि का पूछते ही संदेसा।
वृक्षों में हो विपथ चल वे आ रहे ग्राम को थे,
ज्यों-ज्यों आते निकट महि के मध्य जाते गड़े थे।

कि समवयस्क बालक-बालिकाओं में बचपन में एक-साथ रहते व खेलते-कूदते एक अलौकिक प्रगाढ़ता हो ही जाया करती है। कभी-कभी वह पारस्परिक प्रेम अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर वासना के स्पर्श से रहित अतएव पावनतम हो बना रहता है। ऐसी दशा में मनोविकारों की तृप्ति के स्थान पर पारस्परिक गुणानुरक्ति ही प्रमुख पद प्राप्त कर लेती है। बच्चों के सात्त्विक प्रणय-व्यापार व उसमें विद्यमान एक अपूर्व तन्मयता व उत्सुकता को सहृदय सामाजिकों के हृदय भली भाँति अनुभव करते हैं। शिशुहृदयों की वह मैत्री ऐसी अनन्यता स्थापित कर देती है कि एक क्षण भी एक-दूसरे से अलग नहीं रह सकते। राधा और कृष्ण का प्रेम भी आरम्भ में ऐसा ही था। धीरे-धीरे अवस्था के साथ उस प्रेम में भी एक अदृश्य परिवर्तन होने अवश्य लगा था। जैसा कि कवि कहता है—

युगल का वय साथ सनेह भी, निपट नीरवता सँग था बढ़ा।
फिर यही वर बाल सनेह ही, प्रणय में परिवर्तित था हुआ।

पर यह बाल-स्नेह प्रणय में परिवर्तित होकर विचारों तक ही सीमित रहा, वह विकारों में परिवर्तित नहीं हुआ।

उपाध्याय जी की राधा और ब्रजभाषा के कवियों की राधा में दूसरा बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ प्राचीन कवियों की राधिका 'कुलकानि' और रीति की नीति, वेद के बन्धन को तोड़-ताड़कर उन्मुक्त प्रेमपथ की पथिका बनी हुई है, वहाँ उपाध्याय जी की राधा अनन्य प्रणयोपासिका होते हुए भी वेद की विधि की सर्वश्रेष्ठ संरक्षिका व मर्यादा के महत्त्व को मानने वाली एक संभ्रान्त कुल-ललना है। वह सद्‌गुण-गण-मंडिता व अनुकरणीय आदर्श-सुशोभिता है। उसका यह गुणाधिक्य कुछ आलोचकों को दृष्टि में खटकता है और वे कहते हैं कि उपाध्याय जी ने अपनी राधा को—

'सद्‌वस्त्रा सदलंकृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता।'

से बाल-बाल बचा लिया। यह तो थी ब्रज की रक्षा की बात। फिर भी अब तक गोवर्धन-धारण का जो प्रवाद प्रचलित है, उसका समाधान निम्न कविता में कितने मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में
ब्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का,
सकल लोग लगे कहने उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने।

इसी प्रकार दावानल-पान की कथा को भी उपाध्याय जी ने जंगल की आग में जलते हुए गो-गोपों को बचाने का उल्लेख कर स्वाभाविक रूप दे दिया है। श्रीकृष्ण को इन सब भयंकर आपदाओं के समय अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर अलौकिक स्फूर्ति के साथ रक्षा करते देखकर पाठकों की आँखों के समक्ष किसी अत्यन्त कर्तव्यपरायण निःस्वार्थ सेवाव्रती स्काउट का चित्र अंकित हो जाता है। ब्रजवासियों पर आने वाली प्रत्येक आपदा के अवसर पर वे स्वयं आगे बढ़कर दूसरों की रक्षा करते हैं। दूसरे निराश, हतोत्साह व्यक्तियों के निष्प्राण हृदयों में आशा, उत्साह व जीवन का संचार कर देते हैं। इसी सेवा-भाव से प्रेरित होकर ही श्रीकृष्ण को अपनी परम प्रेयसी राधा से भी सदा के लिए बिछुड़ना पड़ा। जन-सेवा के लिए वे महान्-से-महान् त्याग के लिए भी सर्वदा उद्यत रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपाध्याय जी के श्रीकृष्ण नर से उठकर नारायण के रूप में परिवर्तित हो गये हैं, न कि नारायण उतर कर नर-रूप में आ गये।

राधा—उपाध्याय जी ने राधा-कृष्ण में प्रगाढ़ प्रेम का प्रदर्शन करके भी उनके उस पारस्परिक प्रणय को पवित्र ही बनाये रखा, उसमें कहीं भी वासना की गन्ध तक नहीं आने दी। बात तो यह है

'प्रियप्रवास' का विरह-वर्णन—

उपाध्याय जी ने विरह-वर्णन को भी स्वस्थ रूप में उपस्थित किया है। प्राचीन कवियों के राधा व गोपियों के विरह-वर्णन को पढ़ते हुए यह शंका उपस्थित होती है कि जिन कामिनियों का कृष्ण ने सर्वात्मना रसोपभोग किया, उन सबको इस प्रकार सहसा अकारण ही क्यों बिसार दिया गया? ऐसी कौनसी बाधा थी जिसके कारण श्रीकृष्ण अपनी सोलह सहस्र रानियों में उन्हें स्थान नहीं दे सकते थे। उधर गोपियों ने भी तीन कोस की दूरी पर ही स्थित श्रीकृष्ण को जाकर स्पष्ट रूप से क्यों नहीं कह दिया कि हमारा सर्वस्व लेकर अब क्यों हमसे किनारा कर बैठे हो? जो उलाहने वे उद्धव को देती हैं वे श्रीकृष्ण को जाकर क्यों नहीं देतीं? कृष्ण कोई बहुत दूर नहीं हैं।

उपाध्याय जी के विरह-वर्णन को पढ़ते समय उक्त सब शंकाएँ स्वतः निरस्त हो जाती हैं। जैसे कि—

सर्वप्रथम तो उपाध्याय जी ने राधा और कृष्ण के प्रगाढ़ प्रेम को पराकाष्ठा पर पहुँचाते हुए भी उनके पति-पत्नी-रूप को प्रामाण्य नहीं ठहराया। उन्होंने राधिका को आजन्म कुमारिका ही बने रहने दिया। उनके राधा-कृष्ण का प्रेम वासनात्मक रूप को ग्रहण नहीं करने पाया। हाँ, चाहते दोनों अवश्य थे कि वे पति-पत्नी के रूप में पारस्परिक प्रणय-पाश में आबद्ध हो जायँ, पर ऐसा अवसर उपस्थित होने से पूर्व ही दोनों एक-दूसरे से सदा के लिए बिछुड़ गये। इसके अतिरिक्त गोपियों के प्रति तो श्रीकृष्ण का कोई विशेष आकर्षण व्यक्त नहीं किया गया। जिस प्रकार सभी व्रजवासी कृष्ण के गुणों के कारण उनके विरह में व्याकुल हैं तदनुरूप गोपियों का भी वियोग-दुःख से दग्ध होना स्वाभाविक है, पर उसमें किसी प्रकार की ऐन्द्रियता या वासना का लवलेश भी नहीं। श्रीकृष्ण तो राधा को

आदि अनेक स्थलों में 'सद्' के भार से इतना अधिक दबा दिया है कि उसमें चंचलता व चुलबुलाहट का कहीं नाम भी नहीं रह गया।

उपाध्याय जी की राधा एक अत्यन्त गम्भीर, विज्ञ व विश्व-हितैषणा में लीन प्रौढ़ महिला है। उसमें नवयुवतियों में सुलभ हास-विलास एवं मादक चंचलता के स्थान पर प्रौढ़-पुरुषों में पाई जाने वाली गुरु-गम्भीरता ही प्रमुख रूप से लक्षित होती हैं। मर्यादा का उसे आवश्यकता से अधिक ध्यान है। वह कृष्ण की पहचान बताती हुई पवन से भी उनकी मर्यादा व शिष्टता का विशेष रूप से उल्लेख करती हुई कहती है—

बैठे होंगे मनुज जितने शान्त औ' शिष्ट होंगे।
मर्यादा का सकल जन को ध्यान होगा बड़ा ही।

उपाध्याय जी की राधिका कैसी रोगी-वृद्ध-जनोपकारनिरता है, इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण देखिए। वह पवन को दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास अपना वियोग-दुःख-भरा संदेश भेजना चाहती है। इतने आवश्यक और अविलम्बकरणीय कार्य की चिन्ता न करते हुए कहती है—

तेरे जैसी मृदु पवन से सर्वथा शान्तिकामी,
कोई रोगी पथिक पथ में जो कहीं भी पड़ा हो।
तो तू मेरे सकल दुख को भूलके धीर होके,
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्वांग देना।

कैसी उदाराशया है, हरिऔध जी की राधा! क्या ऐसी वदान्यता किसी अन्य कवि की राधिका में कहीं दिखाई दे सकती है? कदापि नहीं।

की अपेक्षा एक अनुपम मौलिक विशेषता है। 'प्रियप्रवास' के विरहातप में तप कर राधा और कृष्ण का चरित्ररूपी स्वर्ण अत्यन्त शुद्ध व निर्मल होकर निखर उठा है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपाध्याय जी ने भक्ति-भावना से नहीं प्रत्युत सुधार की प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर इस प्रवन्ध-काव्य का प्रणयन किया है।

उपाध्याय जी की भाषा प्रायः संस्कृतनिष्ठ है, पर क्लिष्ट नहीं।

'रूपोद्यानप्रफुल्लप्राय-कलिका, राकेन्दुबिम्बानना'

सरीखे लम्बे समस्त वाक्य सर्वत्र नहीं हैं। सामान्यतः पात्रों या अवस्थाओं के अनुरूप उनकी भाषा परिवर्तित होती रहती है। वृद्ध, आभीर या ऐसे ही दूसरे पात्रों की भाषा अति सरल है। उपाध्याय जी की भाषा पर संस्कृतमयता का जो आक्षेप किया जाता है, उसका एक बड़ा कारण यह है कि उन्होंने संस्कृत के वर्णवृत्तों में ही संस्कृत-पदावली का प्रयोग कर डाला। फलतः संस्कृत के श्लोकों और हिन्दी-कविता में कोई अंतर नहीं रह गया। यदि वे संस्कृत-वर्णवृत्तों को न अपना कर हिन्दी-छन्दों में ऐसी भाषा लिखते तो किसी को कुछ आपत्ति न होती। गुप्त जी, पन्त जी या प्रसाद जी उनसे कहीं अधिक संस्कृत-गर्भित भाषा लिखते हैं, किन्तु हिन्दी-छन्दों को अपनाने के कारण वे इस प्रकार के आक्षेपों से बच जाते हैं। उपाध्याय जी की शैली सामान्यतः संस्कृत-प्रबन्ध-काव्यों की-सी है। उसमें यही विशेषता है कि वे सर्गान्त में छन्द बदलते नहीं।

वैदेही-वनवास

यह उपाध्याय जी का दूसरा महाकाव्य है। इसकी रचना सौकुमार्य-युग में सं० १९९९ में हुई थी। इसमें संस्कृत-वर्णवृत्तों का

छोड़ अन्य किसी के प्रति कभी आसक्त नहीं हुए। अतः उपाध्याय जी के विरह-वर्णन में वैसी अस्वाभाविकता नहीं आ पाई। श्रीकृष्ण ने उद्धव को मथुरा भेजते समय अपने हृदय में दहकते हुए वियोगानल का स्पष्ट वर्णन करते हुए इस तथ्य को प्रकट कर दिया है कि राजनैतिक दांव-पेचों के पचड़ों के कारण ही वे वहाँ नहीं जा सक रहे हैं। उधर राधिका का स्वाभिमान उसे भी श्रीकृष्ण के पास न जाने पर बाध्य कर रहा था। यह मानिनी के हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। इस विरह में एक अनिर्वचनीय सात्त्विकता लक्षित होती है। यहाँ स्थानगत दूरी का कोई प्रश्न ही नहीं। तीन कोस क्या, अपनी कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर तीन घरों की दूरी पर स्थित प्रियतम का भी कभी-कभी परित्याग कर देना पड़ता है।

बात तो यह है कि अपने जीवन के महान् लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त श्रीकृष्ण के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह बचपन के प्रेम के अंकुर को और अधिक विकसित न होने दें। प्रेम के पचड़े में पड़कर उनकी भावी गति-विधियों के रुक जाने की संभावना उपस्थित हो सकती थी। अतः उन्होंने इस प्रेम-प्रपंच से परे रहकर ही कर्तव्य-मार्ग पर अग्रसर होने का निश्चय कर लिया, किन्तु उनके अन्तरतम पर अंकित राधिका की प्रतिच्छवि सदा के लिए अमिट ही बनी रही।

उधर राधिका को भी कवि ने एक अत्यन्त गम्भीर विचार-शील रमणी के रूप में अंकित कर उसके विरह को एक अनुकरणीय रूप दे दिया है। उसने विश्व-कल्याण के मार्ग पर अपने-आपको न्योछावर कर दिया, या यों कहें कि प्रिय की इच्छा ही में अपनी इच्छाओं को सम्मिलित कर उसने अपनी पृथक् सत्ता को भी समाप्त कर दिया। इसलिए उपाध्याय जी के विरह-वर्णन में प्राचीन कवियों

नवीन उद्भावनाओं के द्वारा इन शंकाओं के समाधान का प्रयत्न भी किया। भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में कौशल्यादि माताओं को तथा वशिष्ठ आदि ऋषियों को ऋष्य-शृङ्ग के १२ वर्ष में समाप्त होने वाले यज्ञ में भाग लेने के बहाने सीता-निर्वासन से पूर्व ही तपोवन में भेज दिया है। और १२ वर्ष के बाद भी कौशल्या आदि माताएँ यह कहकर कि "हम बहू से सूनी अयोध्या में नहीं जायँगी" वाल्मीकि के आश्रम में जा पहुँचती हैं। वहीं पर जनक, सीता, लव-कुश आदि से उनकी भेंट होती है। इधर राम को वशिष्ठ आदि संदेश भेजते हैं कि हमारी अनुपस्थिति में कहीं प्रजानुरञ्जन के कार्य में शिथिलता न आने देना, इसी पर वे प्रतिज्ञा करते हैं कि—

स्नेहं दयाञ्च सौख्यञ्च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

अर्थात्—

स्नेह दया सुख सम्पदा, जनक-सुता बरु होहि।
प्रजा-काज सब छोड़ते, व्यथा न व्यापै मोहि॥

और अगले ही क्षणों में यह कर भी दिखाते हैं।

भवभूति ने इस प्रकार अपनी प्रतिभा के बल पर कौशल्या आदि माताओं तथा वशिष्ठ आदि गुरुजनों को तो बड़े भारी अपवाद से बचा लिया, किन्तु इससे ऐतिहासिक तथ्य की बड़ी भारी विकृति हो गई। कौशल्या आदि माताओं तथा वशिष्ठ आदि को ज़बरदस्ती अयोध्या से बाहर निकाल दिया गया। सीता का चरित्र तो उसमें कुछ विकसित हो ही नहीं पाया; वह तो आत्महत्या तक कर बैठती है। सिवाय करुण-भावना के उसमें अन्य किसी प्रवृत्ति का विकास नहीं। राम भी आरम्भ से अन्त तक रोते-ही-रोते हैं और वे स्वयं कहते भी हैं—"मुझ अभागे के भाग्य में तो रोना ही लिखा है।" इस प्रकार हम देखते हैं

आश्रय न लेकर हिन्दी के मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। 'प्रियप्रवास' के समान संस्कृत-प्रचुर पदावली का भी प्रयोग नहीं हुआ। 'वैदेही-वनवास' की रचना से पूर्व गुप्त जी, प्रसाद जी तथा अन्य छायावादी कलाकार खूब चमक चुके थे। उनकी भाषा, विषय-शैली का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर सर्वत्र लक्षित होने लगा था। उपाध्याय जी ने ऐसे युग में 'वैदेही-वनवास' की रचना करते हुए भी इस पर दूसरे किसी कलाकार के भाव, भाषा व शैली की छाप नहीं लगने दी।

'वैदेही-वनवास' को 'प्रियप्रवास' के समान एक प्रौढ़ रचना तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी हिन्दी के उत्कृष्ट काव्यों में इसकी गणना अवश्य की जा सकती है। इस काव्य का कथानक भी सुविख्यात और पिष्ट-पेषित है, फिर भी उपाध्याय जी ने देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार नवीन उद्‌भावनाओं के द्वारा इस काव्य में भी नवीन सूझ-बूझ तथा नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। वाल्मीकीय रामायण में सीता-निर्वासन का प्रसंग जिस रूप में अंकित हुआ है, उसके आधार पर आज के प्रत्येक तार्किक मस्तक में स्वभावतः अनेक शंकाएँ उपस्थित हो जाती हैं। जैसे कि राम ने सीता को गंगा-स्नान के बहाने धोखे से हिंस्र जन्तुओं से पूर्ण वन में एकाकिनी क्यों छुड़वा दिया ? गुरु वशिष्ठ आदिकों ने उन्हें इस निठुर कार्य से क्यों नहीं रोका ? कौशल्या आदि माताओं या सासों का तो यह धर्म था कि वे अकेली गर्भवती सीता को वन-वन भटकने के लिए कभी न जाने देतीं, या तो वे उसे वन में भेजने ही न देतीं अथवा वे स्वयं साथ चली जातीं। नारी के कोमल हृदय को रखते हुए भी इस कठोर कार्य को वे कैसे सहन कर गईं—आदि ऐसी ही शंकाएँ हैं जिनकी ओर सभी सहृदयों का ध्यान आकृष्ट होता रहा है। विभिन्न युगों के कलाकारों ने अपने-अपने युग की परिस्थिति के अनुसार

इसी सूत्र से कतिपय कुत्साओं की है कल्पना हुई।
अविवेकी जनता के मुख से निन्दनीय जल्पना हुई॥

बात भी सर्वथा युक्तियुक्त और मनोवैज्ञानिक है। यह सार्वजनिक अनुभव है कि प्रायः दुष्ट लोग दुष्ट-दमन करने वाले राजा से इतने नहीं चिढ़ते जितने कि इस कार्य के लिए उसे प्रोत्साहित करने वाले और सम्मति देने वाले मन्त्री आदि से। क्योंकि राम को सदा दुष्टों के दलन के लिए सीता ही प्रोत्साहित करती रहती है अतः उनके प्रत्यक्ष कोप का पात्र भी उसे ही बनना पड़ता है। वे अहर्निश उसकी झूठी-सच्ची निन्दा-स्तुति किया करते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐसे दुष्टों को दण्ड देकर उनका मुख बन्द करने का प्रयत्न क्यों नहीं किया गया। इसके उत्तर में कवि कहता है कि अपने सम्बन्ध में जनता के द्वारा लगाये गये झूठे कलंक को राजा यदि दण्ड के द्वारा दूर करने का प्रयत्न करेगा तो कदापि वह सफल न होगा। इसके लिए तो उसे कष्ट सहन कर प्रेम और सद्भावनाओं के द्वारा जन-मन को परिवर्तित करना होगा। इसीलिए श्रीराम कहते हैं—

दमन नहीं मुझको वांछित है तुम्हे भी न वह प्यारा है।
सामनीति ही जन अशान्ति-पतिता की सुरसरि-धारा है॥
लोकाराधन के बल से लोकापवाद को दल दूँगा।
कलुषित मानस को पावन कर मैं मनवांछित फल लूँगा॥
....
क्यों दूसरे पिसें, संकट में पड़ बहु दुख भोगते रहें।
क्यों न लोक-हित निमित्त जो सह पायें हम स्वयं सहें॥

राम के इन असंभावित वचनों को सुनकर पहले तो सीता अपने आपको न संभाल सकी। उसे लगा कि मानो राम का विरहजन्य शोकातप

कि भवभूति के पात्र आज के समाज के लिए सहानुभूति के पात्र होते हुए भी परमोच्च श्रद्धा के वैसे अधिकारी नहीं हैं। इन्हीं सब बातों को देखकर उपाध्याय जी ने अपनी विधायिनी कल्पना के सहारे राम, सीता और कौशल्या आदि को एक सर्वथा नवीन, अलौकिक, दिव्य, फिर भी सर्वथा स्वाभाविक—सहज रूप में चित्रित कर सहृदयों की सहानुभूति और श्रद्धा का समन्वित अधिकारी बना दिया।

'हरिऔध' जी के राम सीता को धोखे से वन में नहीं भेजते, न हिंस्र जन्तुओं से भरे हुए जंगल में एकाकिनी को अपने भाग्य के सहारे भटकने के लिए ही छोड़ देते हैं। प्रत्युत इसके लिए वे सीता जी से पहले पूरी तरह परामर्श कर लेते हैं। वन में भेजने के लिए वे धोबी की एक छोटी-सी उक्ति को ही निमित्त नहीं बनाते, प्रत्युत एक के बाद दूसरे कारणों की झड़ी लगा देते हैं, जिनमें राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक आदि सभी निमित्त समान रूप से सम्मिलित हैं।

इसके लिए भूमिका भी अत्यन्त भव्य रूप में प्रस्तुत की गई है। सीता एक दिन राम को उदास देखकर उनकी उदासी का कारण पूछती हैं। तब राम ने पर्याप्त गम्भीर अवतारणा के अनन्तर कहा—

इतना कह लोकापवाद की सारी बातें बतलाईं।
गुरुताएँ अनुभूत उलझनों की भी उनको जतलाईं॥
गन्धर्वों के महानाश से प्रजा-वृन्द का कँप जाना।
लवणासुर का गुप्त भाव से प्रायः उनको उकसाना॥

ये दुर्जन लोग इस लोकापवाद का प्रचार उत्तरोत्तर अधिकाधिक क्यों करते जा रहे हैं—इसका भी एक बहुत बड़ा राजनैतिक हेतु बताते हुए श्रीराम कहते हैं—

यह अपवाद लगाया जाता है मुझको उत्तेजित कर।
द्रोह-विवश दनुजों का नाश कराने में तुम हो तत्पर॥

कर ही दिया, साथ ही सीता के चरित्र को भी एक अत्यन्त स्पृहणीय गौरवपूर्ण निखार दे दिया है।

बात तो यह है कि भवभूति आदि मध्यकालीन कवि नारी के प्रति असीम श्रद्धा रखते हुए और उसे तप, त्याग और क्षमा व सहनशीलता को साक्षात् सजीव प्रतिमा मानते हुए भी यही समझते रहे कि वह अपने सिर पर आ पड़े कष्टों को विवशतापूर्वक सहन करती रहती है। उसमें उन यातनाओं के प्रतिरोध का न साहस है न सामर्थ्य। साथ ही वह जन-हित के लिए पुरुषों की भाँति जान-बूझ कर स्वेच्छापूर्वक विपत्तियों का आह्वान करने के लिए भी सर्वथा असमर्थ और अयोग्य समझी जाती थी। यही कारण है कि भवभूति आदि ने सीता को उसी रूप में चित्रित किया, किन्तु आज के युग में नारी को भी पुरुषों ही के समान प्रत्येक कार्य के लिए सर्वथा सक्षम, सशक्त और सुयोग्य समझा जाता है। वह राष्ट्रहित के लिए पुरुष से भी बढ़कर स्वेच्छापूर्वक बलिदान कर सकती है। राजनैतिक प्रवृत्तियों का संचालन भी उसके हाथों निरापद रूप से हो सकता है। उपाध्याय जी ने इस प्रकार अपनी सीता को युग के अनुरूप नवोद्‌बुद्ध चेतना से सजाया और सँवारा है; अस्तु।

दूसरों के पापों और अपराधों के लिए स्वेच्छापूर्वक स्वयं कष्ट-सहन की इसी अलौकिक आदर्श आर्य-भावना को ही लाखों वर्षों के पश्चात् इस युग में गाँधी जी ने क्रियात्मक रूप देकर अत्यन्त उपयोगी और सक्षम सिद्ध कर दिखाया। 'वैदेही-वनवास' में भगवान् राम और सीता लवणासुर-वध के अवसर पर कम-से-कम हत्या की आज्ञा देते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'वैदेही-वनवास' में गाँधीवाद से प्रभावित आर्य-आदर्श का दिव्य संदेश सर्वत्र मुखरित हो रहा है। ब्रिटिश साम्राज्य की दमन-नीति के प्रति इसमें स्पष्ट

उसे संतापित कर भस्मसात् कर देगा, वह अन्य अनेक प्रकार की यातनाएँ सहने में समर्थ होती हुई भी विरह-वेदना को कदापि न सह सकेगी; किन्तु दूसरे ही क्षण उसे स्मरण हो आया कि वह कोई साधारण नारी नहीं, उस मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की सहधर्मिणी है जिसने आत्मत्याग की अग्नि में तप कर भी लोकाराधन का पवित्र व्रत ले रखा है। यदि वह उस व्रत के पालन में सहायक न होकर किसी प्रकार भी बाधक बनी तो राम की सहधर्मिणी कहलाने का उसको क्या अधिकार रह जायगा! यही सोचकर वह कहती है—

अपने दुख की जितनी बातें, मैंने हो उद्विग्न कहीं।
आपको प्रभावित करने का था उसका उद्देश्य नहीं॥
वह तो स्वाभाविक प्रवाह था जो मुँह से बाहर आया।
आह! कलेजा हिले कलपता कौन नहीं कब दिखलाया॥
किन्तु आपके धर्म का न जो परिपालन कर पाऊँगी।
सहधर्मिणी नाथ की तो मैं कैसे भला कहाऊँगी॥

सीता के द्वारा इस अलौकिक आत्मबलिदान की दिव्य स्वीकृति पाकर राम का हृदय गद्गद हो जाता है। वे गर्भवती स्त्रियों को आश्रमों के पवित्र वातावरण में रहने की पुनीत प्राचीन प्रथा के परिपालन का पारिवारिक निमित्त बताकर सीता जी को वाल्मीकि महर्षि के सब प्रकार से सुरक्षित तपोवन में भेजने का निश्चय करते हैं। राम के लिए भी सीता-विरह उतना ही असह्य है, किन्तु इसके लिए वे कहते हैं—

यह असह्य है, सहन-शक्ति पर मैं तुमसे ही पाऊँगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपाध्याय जी ने अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी विधायिनी कल्पना के द्वारा राम, वशिष्ठ तथा कौशल्या आदि माताओं को सीता-निर्वासन के कारण लगी हुई लांछनाओं से मुक्त तो

भी अंकित हो गई है। 'प्रियप्रवास' की रचना के समय (संवत् १९६५ के आसपास) राष्ट्रीय चेतना की अपेक्षा सामाजिक सुधार-भावना का ही बोलबाला था। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज आदि के सामाजिक आंदोलनों के कारण लोगों में बुद्धिवाद की प्रधानता होती जा रही थी। राम और कृष्ण को परब्रह्म या ईश्वरावतार के स्थान पर महापुरुषों के रूप में स्वीकार करने की भावनाएँ बढ़ती जा रही थीं। उनके अलौकिक कार्यों की लौकिक व्याख्याएँ की जाने लगी थीं। स्त्रियों के प्रति सम्मान की मौखिक अभिव्यक्ति तो थी पर उन्हें सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में सक्रिय भाग लेने के योग्य नहीं समझा जाता था। 'प्रियप्रवास' के राधा-कृष्ण का चरित्र उस युग की भावनाओं से प्रभावित है। इसके विपरीत संवत् १९९६ (सन् १९३८-३९) में गाँधी जी के अहिंसात्मक सत्याग्रह की भावनाएँ ज़ोरों पर थीं। स्त्रियों ने राष्ट्रीय आन्दोलनों में बढ़-चढ़ कर भाग लेकर स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहन और आत्मबलिदान की भावनाओं को व्यक्त कर दिया था। इस युग का मानव नारी को प्रत्येक क्षेत्र में—त्याग और बलिदान व राजनीति में भी—अपने ही समान स्वीकार कर चुका था। तदनुसार 'वैदेही-वनवास' में भी यही सब भावनाएँ मूर्त रूप में अंकित हुई हैं।

इतना सब कुछ होने पर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि उपाध्याय जी ने इस युग के विचार-चित्र को बलात् प्राचीन युग की चौखट में फ़िट नहीं कर दिया है। जैसा कि प्रायः अनेक कलाकार किया करते हैं। गुप्त जी—

'तुम अर्द्धनग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ हम कातें बुनें गान की लय में।'

सीता के मुख से ऐसे वाक्य कहलाकर इस युग की भावनाओं को बलात् राम के युग के गले में उतारना चाहते हैं। पर उपाध्याय जी ने ऐसी

प्रतिक्रिया प्रकट हुई है और हिंसात्मक युद्ध का प्रबल विरोध गया है। जगज्जननी जानकी लंका-दहन के दृश्यों की स्मृति से उद्विग्न हो उठती है—

क्रन्दन-कोलाहल बहु, आहों की भरमारें।
आहत - जन की लोक-प्रकंपितकरी पुकारें॥
कहाँ भूल पाईं वे तो हैं भूल न पाती।
स्मृति उनकी है आज भी बहुत मुझे सताती॥

इसी प्रकार सच्चरित्रता, आध्यात्मिकता और लोक-कल्याण-कारिता की पावनतम त्रिवेणी की धारा के संगम-स्थल तीर्थराज प्रयाग के समान महत्त्व-मंडित इस काव्य का कलापक्ष भले ही कुछ शिथिल हो, पर भाव-पक्ष निसर्गोज्ज्वल है, इसमें कुछ संदेह नहीं।

उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास' इन दोनों काव्यों में करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। दोनों ही महाकाव्यों के नायक भावुक भक्तों के द्वारा साक्षात् परब्रह्म के रूप में स्वीकृत हुए हैं। पर उपाध्याय जी ने युग की भावना के अनुरूप दोनों ही चरित-नायकों को साक्षात् परब्रह्म तो दूर रहा, ईश्वरावतार भी न मान कर आदर्श महापुरुषों के रूप में ही अंकित किया है। उपाध्याय जी के राम और कृष्ण दोनों ही सुख-दुःख, राग-विराग, इच्छा-क्रोध आदि मनोवेगों से प्रभावित होने वाले वैसे ही स्पन्दनशील हाड़-मांस के पुतले हैं जैसे कि सामान्य मानव। फिर भी वे अपने दिव्य गुणों के कारण लोकोत्तर-पद पर पहुँच जाते हैं। यही लौकिकता में अलौकिकता है। इस प्रकार 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास' दोनों में समष्टिरूपेण आधुनिक युग की सम्पूर्ण सामूहिक चेतना यथावत् प्रतिफलित हो रही है। फिर भी इन दोनों महाकाव्यों में अपने-अपने युग की सामयिक परिस्थितियों की सूक्ष्म रेखाचित्रों की झाँकी

साहित्य-भंडार में अलौकिक आभायुक्त दिव्य रचना-रत्न प्रदान कर सरस्वती की अत्यन्त स्तुत्य एवं सदास्मरणीय सेवा की है। वे हिन्दी के अमर कलाकार के रूप में सदा सम्मानपूर्वक स्मरण किये जाते रहेंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

कल्पना से कहीं काम नहीं लिया जिससे कृत्रिमता की झलक आने लगे।

'वैदेही-वनवास' की भाषा 'प्रियप्रवास' के समान प्रवाहपूर्ण और प्रौढ़ तो नहीं है, पर इसके प्रकृति-चित्रण अधिक प्रभावशाली हैं। स्थान-स्थान पर संश्लिष्ट वर्णनात्मक बिम्ब-ग्रहण की छटा भी दर्शनीय है, जैसे—

पहले छोटे-छोटे घन के खंड घूमते दिखलाये।
फिर छायामय कर क्षिति-तल को सारे नभ-तल में छाये॥
तारापति छिप गया आवरित हुई तारकावलि सारी।
सिता बनो असिता छोनतो दिखलाई उसकी छवि न्यारी॥

'हरिऔध' जी की प्रकृति भाव-शून्य न होते हुए भी अलंकारपूर्ण है। इनके प्रकृति-वर्णन मानवीय व्यापारों की पृष्ठभूमि के रूप में ही अधिकतर आये हैं। उनका दृष्टिकोण नैतिक सौन्दर्यद्रष्टा का सा है। उसमें छायावादी की-सी प्रणय-भावना नहीं है, अन्यान्य हिन्दी के उच्च कवियों के समान उपाध्याय जी की भाषा 'वैदेही-वनवास' में भी तत्समहै। रूपक, उपमा, प्रतीप, व्यतिरेक आदि अलंकारों के स्वाभाविक चमत्कार से कविता का सौंदर्य सचमुच निखर उठा है।

'वैदेही-वनवास' में भावोद्रेक के स्थान पर विचारोत्कर्ष का ही प्राधान्य है, तथापि बाह्य दृष्टि से जिस रूप में और जितने अंशों में 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' को महाकाव्य का पद प्राप्त हो सकता है, 'वैदेही-वनवास' को भी लगभग उसी रूप में महाकाव्य माना जा सकता है। 'वैदेही-वनवास' लिखकर उपाध्याय जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे अपने युग के प्रति सदा सतर्क रहे और उसे मूर्त अभिव्यक्ति देने के लिए सदा प्रयत्नशील भी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपाध्याय जी ने खड़ीबोली के

साहित्य की मृत्यु के पश्चात् उनकी धर्मपत्नी के भी ये ही प्राइवेट सेक्रेटरी रहे।

रत्नाकर जी ने केवल व्रजभाषा में कविता की है। उनकी कविता पुरानी पद्धति पर चलती हुई भी अत्यन्त सरस और ओजपूर्ण है। उनकी भाषा मँजी हुई, रोचक और प्रवाहपूर्ण है। वे अपने समय में व्रजभाषा के सबसे बड़े कवि समझे जाते थे। उन्होंने 'हिंडोला', 'गंगावतरण', 'हरिश्चन्द्र', उद्धवशतक,' 'समालोचनादर्श', 'शृङ्गार-लहरी', 'गंगालहरी', 'विष्णुलहरी', 'रत्नाष्टक', 'वीराष्टक' आदि काव्यों के अतिरिक्त बड़ी संख्या में फुटकर छन्दों की रचना की थी। रत्नाकर जी ने कई प्राचीन काव्यों का सम्पादन भी किया है, जिनमें 'हित-तरङ्गिणी', 'हम्मीर-हठ', 'कण्ठाभरण' और 'विहारी-रत्नाकर' नाम से विख्यात 'विहारी-सतसई' की टीका विशेष उल्लेखनीय हैं। बा० जगन्नाथदास जी की उपर्युक्त सभी कविताओं का संग्रह काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के द्वारा 'रत्नाकर' नाम से बहुत सजधज के साथ प्रकाशित हुआ है।

रत्नाकर जी के काव्यों की भाषा 'व्रजभाषा' है, किन्तु इस व्रजभाषा में उन्होंने पर्याप्त संस्कार किये हैं। उन्होंने उसमें खड़ीबोली का ओज भरने का सफल प्रयत्न किया, प्रचलित लोकोक्तियों और विस्मृत मुहावरों के सार्थक प्रयोगों के द्वारा व्रजभाषा की शक्ति को बढ़ा दिया। केवल परम्परा के पालन के लिए प्रचलित अशक्त और घिसे-पिटे पदों के प्रयोग का पूर्ण बहिष्कार कर भाषा की अशक्तता को दूर कर दिया। वे प्रत्येक पद के प्रभाव को पूरी तरह परखने वाले भाषा के सिद्धहस्त जौहरी थे। अगोचर को गोचर बनाने, अव्यक्त को व्यक्त करने, अपने आन्तरिक भावों को सहृदय के हृदय में अङ्कित करने तथा उनके सामने अपनी अनुभूतियों को चित्रित करने में रत्नाकर जी की सरल-

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जन्म संवत् १६२३ देहान्त संवत् १६८६

व्रज-भाषा-काव्य के अन्तिम प्रतिनिधि कवि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म भाद्रपद शुक्ला पंचमी संवत् १६२३ को काशी में एक सम्पन्न अग्रवाल वैश्य-वंश में हुआ। इनके पिता पुरुषोत्तमदास हिन्दी-काव्य-रसिक और फ़ारसी के विद्वान् थे। भारतेन्दु-मण्डली की साहित्यिक गोष्ठियों में वे सोत्साह भाग लिया करते थे। अपने विनोदप्रिय स्वभाव के कारण भारतेन्दु जी विभिन्न वेष बनाकर मित्रों के घर पहुँच जाया करते थे। तदनुसार, भिक्षुक के वेष में वे पुरुषोत्तमदास जी के घर भी एक बार आये थे। बालक जगन्नाथदास की काव्य-प्रतिभा को देखकर भारतेन्दु जी ने आशीर्वादात्मक भविष्यवाणी की थी, "यह बालक आगे चल कर हिन्दी की शोभा बढ़ायेगा", जो अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। रत्नाकर जी ने बी० ए० पास कर आवागढ़ राज्य में नौकरी कर ली। आरम्भ में ये 'जकी' उपनाम से फ़ारसी में कविता का अभ्यास करने लगे, पर कुछ ही दिनों बाद फ़ारसी छोड़ हिन्दी-क्षेत्र में आकर 'रत्नाकर' के उपनाम से चमक उठे। सरस्वती के प्रारम्भिक अङ्क पर सम्पादक-मंडल में रत्नाकर जी का भी नाम था। वे अनेक कवि-सम्मेलनों के अध्यक्ष और संवत् १६८७ में कलकत्ता-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी बने थे। आवागढ़ राज्य की नौकरी छोड़कर ये अयोध्या के राजा सर प्रताप-नारायणसिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी के पद पर काम करते रहे। राजा

अनुपम चमत्कार भी देखिए—

मोहन-रूप लुनाई की खानि मैं, हौं नख तैं सिख लौं इमि सानी।
ह्वै रही लौन-मई रतनाकर, सो न मिटै अब कोटि कहानी॥
सील की बात चलाइ चलाइ कहा किए डारति हौ हमैं पानी।
जानि परै मम जीवन सौं हटि, हाथ ही धोइवे की अब ठानी॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने लोकोक्तियों और मुहावरों के अत्यन्त सरस, स्वाभाविक और चमत्कृत प्रयोगों के द्वारा काव्य-भाषा को अत्यन्त परिपुष्ट और सबल बना दिया है।

शब्दालंकारों के द्वारा भाषा का स्वरूप श्रुति-सुखद, आकर्षक और प्रभावशाली हो जाता है। यदि शब्द भावानुकूल होंगे तो अर्थाभिव्यक्ति भी अनायास हो जायगी। अक्षरमैत्री और शब्दमैत्री के द्वारा भाषा का सौंदर्य बढ़ जाता है, किन्तु रीतिकाल के अधिकतर कवियों ने अनुप्रास के पीछे पड़कर भावों की हत्या कर डाली। इन लोगों ने भावाभिव्यक्ति की चिन्ता किये बिना अनुप्रासों की झड़ी लगा दी। पर रत्नाकर जी ने अनुप्रासादि शब्दालंकारों का प्रयोग उतनी ही मात्रा और उसी रूप में किया है, जहाँ तक कि वे अर्थाभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हों।

कहाँ तक कहें, रत्नाकर जी वास्तव में भाषा के धनी थे। उन्होंने ब्रजभाषा को इतने सुन्दर रूप से सजाया, सँवारा, सुधारा और निखारा है कि वे सचमुच ब्रजभाषा के एक आचार्य कहलाने के पूर्ण अधिकारी बन गये हैं। घनाक्षरी-छन्द में 'पद्माकर' जी के सिवाय और कोई भी इनके समान प्रभावपूर्ण भाषा नहीं लिख सका। कहीं-कहीं तो पद्माकर जी भी रत्नाकर जी से भाषा की दृष्टि से हल्के प्रतीत होते हैं। रत्नाकर जी की भाषा यदि नदी के समान गम्भीर है तो पद्माकर जी की भाषा झरने के समान क्षीण-प्रवाह-युक्त है। रत्नाकर जी की भाषा में यदि काव्य-रसिक साहित्यिक गोष्ठियों की प्रौढ़ता परिलक्षित

स्वाभाविक व्यापारानुकूल भाषा का अपूर्व चमत्कार दर्शनीय ही है। उन्होंने संस्कृत को कोमल-कान्त पदावली के प्रभावपूर्ण प्रचुर प्रयोग के द्वारा व्रजभाषा की अलौकिक कमनीयता में सचमुच चार चांद लगा दिये। सामान्यतया उनकी भाषा बोलचाल की व्रजभाषा तथा संस्कृत-पदावली-पूरित साहित्यिक व्रजभाषा इन दोनों रूपों में उपलब्ध होती है। गंगावतरण' में संस्कृत-प्रचुर पदावली प्रयुक्त हुई है और 'उद्धवशतक' आदि दूसरे काव्यों में लोकोक्तियों व मुहावरों की अनुपम सुषमा से निखरी व्रजभाषा के दर्शन होते हैं। लाक्षणिकता एवं मूर्त्तिमत्ता उनकी भाषा की एक अनुपम विशेषता है। पदावली की यह विशेषता 'उद्धवशतक' में तो पद-पद पर परिलक्षित होती है। 'गंगावतरण' आदि अन्य काव्यों में भी चित्रोपमता की छटा निखर रही है। एक उदाहरण देखिए—

प्राकृत प्रभाव सौं पलट मनमानी पाइ,
पानी आज सकल सँवारयौ काज बानी है।

गोपियों को योग के उपदेश देने के लिए उद्धव को व्रज जाने के लिए उद्यत देख श्रीकृष्ण के हृदय में भावोद्रेक उमड़ पड़ा। वाणी के गद्‌गद हो जाने के कारण शब्दों के द्वारा वे गोपियों के लिए कुछ भी सन्देश न दे सके। पर उनके नेत्रों से निकले हुए प्रेमाश्रु-प्रवाह ने हृदय की समस्त भावनाओं को प्रकट कर दिया। इस पर कवि मुहावरों की अपूर्व शक्ति के द्वारा कैसी अनूठी भाव-सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। 'पानी पड़ जाना' मुहावरे का अर्थ है—किसी काम का विगड़ जाना। इस प्रकार पानी ने अपनी काम बिगाड़ने की स्वाभाविक प्रकृति को छोड़कर आज तो काम बना डाला। यहाँ 'पानी पड़ना' पद की व्यंजकता का अपूर्व चमत्कार दर्शनीय है।

इसी पानी के मुहावरे की निरन्तर परम्परायुक्त शृंखला का

भाषा के सरस सौम्य प्रवाह की दृष्टि से यह काव्य भी सुन्दर ही समझा जायगा।

कल-काशी—यह अधूरा खण्डकाव्य है। इसमें एक सौ बयालीस कविताएँ हैं, जिसकी अन्तिम कविता का चतुर्थ चरण भी नहीं है। इसमें काशी का चित्र अङ्कित किया गया है। भाषा चलती और व्यवस्थित है। यद्यपि इसमें 'गंगावतरण' और 'उद्धवशतक'-जैसा दिव्य प्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि यह एक वर्णनात्मक काव्य है।

गंगावतरण—रत्नाकर जी का यह सब से बड़ा प्रबन्धकाव्य है। इसमें तेरह सर्ग हैं। अनेक भावों और रसों का सञ्चार भी अत्यन्त पुष्ट रूप में हुआ है। प्रकृति-वर्णन के दृश्य भी एक-से-एक बढ़कर हृदयहारी हैं। कथा भी ऐतिहासिक और विख्यात है। इस प्रकार इसमें महाकाव्य के लक्षण अंशतः घटाये जा सकते हैं, फिर भी अनेक कारणों से इसे न कवि ने स्वयं महाकाव्य कहा है और न पाठकों या समालोचकों ने ही। लेखक ने स्वयं इस काव्य के अन्त में—

'गंग-अवतरन काव्य यह पूरन भयौ उदार'

कहकर 'गंगावतरण' को एक सामान्य काव्य ही घोषित किया है। तदनुसार 'गंगावतरण' को हम महाकाव्य की सामग्री से युक्त खण्ड-काव्य ही कह सकते हैं।

'गंगावतरण' की कथा ब्रह्मवैवर्त, देवी-भागवत आदि पुराणों में एवं वाल्मीकीय रामायण में है। पण्डितराज जगन्नाथ कविराज की 'गंगालहरी' नामक संस्कृत-रचना में भी गंगा की गौरव-गाथा बड़ी गम्भीरता से गाई गई है। विभिन्न पुराणों में गंगा की महिमा को प्रदर्शित करने के लिए विष्णुपदी नामक स्तोत्र एक ही रूप में उद्धृत किया गया है।

होती है तो पद्माकर जी की भाषा में बालकों को कर्ण-प्रिय कलित, मधुर ध्वनि गूँज रही है। रत्नाकर जी की भाषा में बिहारी का-सा सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत रूप है। संक्षेप में कह सकते हैं कि रत्नाकर जी ने व्रजभाषा की अपनी प्रकृति को पूरी तरह परखते हुए उसमें नव-जीवन, नवीन आकर्षण और अनुपम ओजस्विता का सञ्चार किया, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

रत्नाकर जी के काव्यों के विषय शुद्ध पौराणिक हैं। 'उद्धवशतक' 'गंगावतरण', 'हरिश्चन्द्र' आदि काव्यों के द्वारा उन्होंने अतीत के उच्च आदर्श चरित्रों के चित्र अङ्कित किये हैं। भक्त कवियों में भावुकता और रीतिकालीन कवियों में कलात्मकता प्रमुख रूप से लक्षित होती है। रत्नाकर जी ने अपने काव्यों में भावुकता व कलात्मकता के साथ ओजस्विता की अपूर्व त्रिवेणी बहाई है। उनकी रचनाएँ (१) प्रवन्ध, (२) मुक्तक—इन दोनों रूपों में मिलती हैं।

'हरिश्चन्द्र', 'कल-काशी' और 'गंगावतरण' प्रबन्धकाव्य हैं।

हरिश्चन्द्र—इस काव्य में अयोध्या के महाराज सत्य-हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा का ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया गया है। यह चार सर्गों का खण्डकाव्य है। पहिले सर्ग में चौंतीस, दूसरे सर्ग में पैंतीस, तीसरे सर्ग में अट्ठावन और चौथे सर्ग में एक सौ नौ रोला छन्द के पद हैं। इसके नायक—महाराज हरिश्चन्द्र, नायिका—महारानी शैव्या और प्रतिनायक विश्वामित्र मुनि हैं। करुण रस प्रधान है। शान्त, वत्सल, रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि अन्य रसों की भी यत्र-तत्र सुन्दर अवतारणा है। हार्दिक भावों की अभिव्यञ्जना बड़ी ही सूक्ष्मता से हुई है। 'हरिश्चन्द्र' काव्य वास्तव में करुण रस का एक जीता-जागता मुँह-बोलता चित्र है। यद्यपि इसका कथानक घिसा-पिटा है, इसमें कवि ने कोई नवीन मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत नहीं कीं, फिर भी रस-संचार, विभाव-चित्रण, भावाभिव्यञ्जन व

लै स-वेग-विक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊँ।
ब्रह्म-लोक कौ बहुरि पलटि कंदुक-इव आऊँ॥

इस पर भगवान् शङ्कर ने भी इस प्रचण्ड वेगवती गंगा को अपने जटाजूट में अवरुद्ध कर डालने के लिए देखिए किस प्रकार पूरी तैयारी कर ली—

सिव सुजान यह जानि तानि भौंहनि मन माषे।
बाढ़ी-गंग-उमंग-भंग पर उर अभिलाषे॥
भए सँभरि सन्नद्ध भंग कै रंग रँगाए।
अति दृढ़ दीरघ स्टंग देखि तापर चलि आए॥
बाघंबर कौ कलित कच्छ कटि-तट सौं नाँध्यौ।
सेस नाग कौ नागबंध तापर कसि बाँध्यौ॥
ब्याल-माल सौं भाल बाल-चंदहिं दृढ़ कीन्यौ।
जटा-जाल कौ भाल-व्यूह गह्वर करि लीन्यौ॥
मुंडमाल यज्ञोपवीत कटि तट अटकाए।
गाड़ि सूल शृंगी डमरू तापर लटकाए॥
वर बाहंनि करि फेरि चाँपि चटकाइ अँगुरियनि।
बच्छस्थल उमगाइ ग्रीव उचकाइ चाय भिनि॥

अब गंगा के पृथ्वी पर आने के दृश्य को देखकर चराचर-मात्र में जिस अपार भय की भावना भर गई उसकी भी झलक देखते चलिए—

भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौं सरके।
हरके बाहन रुकत नेंकु नहिं बिधि हरि हर के॥
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थर के।
धुनि प्रतिधुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके॥

गंगा के प्रवाह की दिव्य शोभा और उस पर कवि की चमत्कृत कल्पना के चित्र का भी किंचित् अवलोकन कर लीजिए—

पद्माकर जी ने हिन्दी में 'गंगालहरी' नामक एक सुन्दर काव्य की रचना की थी। रहीम, रसखान, तुलसी, देव, दास आदि अन्यान्य हिन्दी-कवियों ने भी अपने अनेक मुक्तकों में गंगा की महिमा का बखान किया है।

रत्नाकर जी ने अपने इस काव्य के लिए कथा-सूत्र वाल्मीकीय रामायण से ही लिया है। रामायण में गंगा को हिमालय से निकलने वाली पृथ्वी की नदी ही मूलरूप से बताया है, किन्तु इसके विपरीत 'गंगावतरण' के चतुर्थ सर्ग में गंगा की उत्पत्ति मूलतः गोलोक में स्वीकार की गई है, जोकि देवी-भागवत के आधार पर है। गोलोक का वर्णन वल्लभ-कुल-सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थ 'गर्गसंहिता' के गोलोक-खंड का हिन्दी-रूपान्तर है।

काव्य की दृष्टि से 'गंगावतरण' का आदर्श 'रामचरितमानस' के समान कहा जा सकता है पर यह मानस के समान भक्ति-काव्य नहीं है। इसमें गंगा के अवतरण की कथा भक्ति-भाव से प्रेरित होकर नहीं, प्रत्युत काव्य-कला के प्रदर्शन के हेतु ही कही गई है। स्पष्ट बात तो यह है कि सारे काव्य में ऐतिहासिकता की ही प्रधानता है, भक्ति-भावना का तो चिह्न भी नहीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'गंगावतरण' एक विशुद्ध पौराणिक काव्य है, न कि भक्ति-काव्य।

इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता प्रकृति-वर्णन है। प्रकृति के भीषण रूप का चित्रण बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। गंगा के स्वर्ग से पृथ्वी पर आने का दृश्य वास्तव में रोमांचक है। गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर आने के लिए अनिच्छापूर्वक विवश कर दिया गया। तब उसने निश्चय किया कि वह अपने प्रबल प्रवाह के उद्दाम वेग से सारी पृथ्वी को पार कर पाताल में पैठ कर, गेंद की तरह उछल कर फिर स्वर्ग में आ पहुँचेगी—

गंग कह्यौ उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं ॥
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि हर-संग मही मैं ॥

देखते हैं कि रत्नाकर जी ने अपनी कल्पना का अपूर्व चमत्कार दिखाते हुए भी कहीं पर बे-सिर-पैर की उड़ान नहीं लगाई है। उनकी अत्युक्तियाँ भी स्वाभाविकता की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। प्रकृति के रमणीय रूप का कमनीयतम चित्र इस काव्य के चतुर्थ सर्ग के गोलोक के वर्णन-प्रसंग में प्रस्तुत हुआ है।

हिंडोला—इस काव्य में सौ पद हैं जिनमें राधा-कृष्ण तथा गोपाङ्गनाओं के झूला झूलने के समय की विलास-लीलाओं का विशद वर्णन है। एक प्रकार से इसे संयोग-शृङ्गार का काव्य कह सकते हैं। यह रचना सामान्य है, कोई विशेष उल्लेखनीय तत्त्व इसमें दृष्टिगोचर नहीं होते। उसी पुरानी रीतिकालीन बँधी-बँधाई परम्परा पर कृष्ण की विलास-लीलाओं का चलता-फिरता चित्र खींच दिया गया है। यह इनकी आरम्भिक रचना है। अतः इसमें काव्यगत प्रौढ़ता ढूँढ़ने का प्रयत्न ही नहीं करना चाहिए।

समालोचनादर्श—इसमें पोप के अंग्रेज़ी ग्रन्थ का ब्रजभाषा में पद्यात्मक अनुवाद किया गया है। यूरोपियन नामों का भारतीयकरण कर दिया गया है।

'शृङ्गार-लहरी' में कृष्ण की ब्रज-लीलाओं का वर्णन है। वास्तव में इसे 'उद्धवशतक' का पूर्वार्द्ध कह सकते हैं। 'शृङ्गार-लहरी' में कृष्ण का लौकिक रूप अङ्कित हुआ है। रूप की इस मनोहर झाँकी की झलक दिखाते समय कवि की भावुकता बन्धन-मुक्त होकर चहक उठी है।

उद्धवशतक—यह रत्नाकर जी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें एक सौ अट्ठारह कवित्त हैं। इन कवित्तों का विषय भी रत्नाकर जी के अन्यान्य काव्य-ग्रन्थों के समान घिसा-पिटा है। गोपी-उद्धव-संवाद को लेकर अब तक हिन्दी और संस्कृत में इतना अधिक और चमत्कृत

कबहुँ सु धार अपार-बेग नीचे कौं धावै।
हरहराति लहराति सहस जोजन चलि आवै॥
....
....
कै निज नायक बँध्यौ बिलोकत ब्याल पास तैं।
तारनि की सेना उदंड उतरति अकास तैं॥
कै सुर-सुमन-समूह आनि सुर-जूह जुहारत।
हर हर करि हर-सीस एक संगहि सब डारत॥

गंगा के चमकते हुए जल का प्रवाह आकाश से भगवान् शङ्कर के जटाजूट में गिर रहा है। भगवान् ने चन्द्रमा को गिर जाने के भय से नाग से कसकर बाँध रखा है। चन्द्रमा 'नक्षत्रेश' या तारों का स्वामी है। इस पर कवि कल्पना करता हुआ कहता है कि यह गंगा का स्वच्छ चमकता हुआ जल-प्रवाह नहीं है, प्रत्युत अगणित तारों की सेना की विशाल पंक्ति है, जो अपने स्वामी चन्द्रमा को नाग-पाश में बँधा देख कर उसे छुड़ाने के लिए ही मानो आकाश से नीचे उतर रही है।

यहाँ अप्रस्तुत का विधान भी प्रस्तुत की परिधि के भीतर ही हुआ है। कल्पना बड़ी दूर की है फिर भी अस्वाभाविक नहीं। यह अपूर्व-चमत्कृत कल्पना भाव-धारा के तटों से दूर हट कर अपना अनोखा लोक न बनाती हुई भी अत्यन्त आकर्षक, सर्वथा नवीन अथच मौलिक है। तारों की सेना तथा जगमगाते हुए गंगा के प्रवाह में सवा सोलह आने स्वरूपसाम्य है। तारों की सेना भी ऊपर से ही नीचे आयेगी और गंगा भी आकाश से शिव-जटा-जूट की ओर आ रही है। इतना साम्य दिखा कर भी कवि इस साम्य को निरुद्देश्य ही नहीं छोड़ देता, उससे एक बड़े भारी उद्देश्य की सिद्धि भी करता है; और वह उद्देश्य है—तारापति चन्द्रमा को नाग-पाश से मुक्त कराना। इस प्रकार हम

ी से प्रबन्धकाव्य के रूप में रचा गया हो। इस प्रकार इसमें मुक्तक और प्रबन्धकाव्य दोनों की विशेषताओं के समान रूप से लक्षित होने के कारण इसे 'मुक्तक-प्रबन्ध-काव्य' की अभिनव उपाधि से विभूषित किया गया है।

इसमें नाटक के समान अभिनेय तत्त्व नहीं हैं, फिर भी इसे पढ़ते हुए ऐसा अनुभव होता है मानो हम सजीव चलचित्रों को अपने सम्मुख प्रत्यक्ष देख रहे हैं। इसलिए इसे चित्रोपम मूर्त काव्य भी कह सकते हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना इन तीनों शब्द-शक्तियों का भी इसमें यथास्थान यथायोग्य पूरा निर्वाह हुआ है।

कथावस्तु—उद्धवशतक में श्रीकृष्ण और गोपियों के विरहोद्गार ही प्रधानतया प्रकट हुए हैं। स्थूल-रूप से सूरदास आदि के भ्रमरगीतों की कथावस्तु ही रत्नाकर जी के उद्धवशतक में अंकित प्रतीत होती है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं, स्थूल कथानक में साम्य होते हुए भी भाव, भाषा, विषय, शैली आदि सब-कुछ रत्नाकर जी के अपने हैं। उभयनिष्ठ प्रेम और तर्कानुमोदित, युक्तियुक्त कथोपकथन उद्धव-शतक की बड़ी विशेषताएँ हैं। कथा-सूत्र का उपक्रम भी नवीन ढंग से किया गया है। श्रीकृष्ण यमुना में बहते हुए कमल को देखकर, जिसे ऊपर से राधिका ने बहाया था, भावावेश के कारण अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं। उद्धव के प्रयत्नों से सचेत होकर भी वे गोप-गोपियों के ध्यान में लीन हो जाते हैं। कहते हैं कि हमें व्रज की सुधि सदा बुलाने आती है और अहर्निश संतत उन्हीं की स्मृति बनी रहती है—

सुधि ब्रजबासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती।

यह स्मृति कृष्ण को किस प्रकार व्याकुल किये हुए है, इसका एक

लिखा जा चुका था कि इस विषय को लेकर नवीन चमत्कृत रचना असम्भव-सी प्रतीत होती थी। सूर, तुलसी, नन्ददास, रसखान, भारतेन्दु, सत्यनारायण कविरत्न, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि दो-चार, दस-बीस नहीं प्रत्युत सैकड़ों हिन्दी, संस्कृत आदि भाषाओं के परम निपुण कलाकारों ने गोपिकाओं के विरह-चित्र को अंकित करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर डाला। रत्नाकर जी ने उसी पुराने विषय को अपनाकर उसे ऐसा चिरनवीन रूप प्रदान किया कि वे ही इस विषय के सर्वश्रेष्ठ कलाकार प्रतीत होने लगे। उनकी सी वाग्विदग्धता, भावुकता, अलङ्कार-चमत्कारिता, कल्पना-कुशलता और सतर्कता आदि अनेक गुणों का समुच्चय अन्यत्र शायद ही कहीं मिल सके।

'उद्धवशतक' को मुक्तक काव्य माना जाय या प्रबन्धकाव्य, यह एक विवादास्पद विषय है। जो आलोचक गोस्वामी जी की 'कवितावली' को भी, जिसमें सात काण्डों में आरम्भ से अन्त तक रामचरित की कथा कही गई है, 'मुक्तक' काव्य मानते हैं, उनकी दृष्टि में तो 'उद्धवशतक' प्रबन्धकाव्य कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि इसका प्रत्येक पद अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। कवि ने इन पदों की रचना भी एक ही क्रम से एक-साथ नहीं की प्रतीत होती, कभी किसी पद की और कभी किसी पद की। यहाँ तक कि इनमें से कुछ पद एक वार चुरा भी लिये गये। जिनमें से कुछ को तो स्मृति के आधार पर पुनः लिपिबद्ध कर दिया गया और कुछ नये रच डाले गये। अन्त में उन्हीं ११८ पदों को एक क्रम से एकत्रित कर प्रकाशित करवा दिया गया। इस प्रकार समय-समय पर लिखे गये यह मुक्तक पद एक सुसम्बद्ध शृंखला के रूप में संकलित होकर प्रबन्धकाव्य का रूप धारण कर बैठे। अब तो उद्धव और गोपियों के प्रश्नोत्तरों के रूप में यह काव्य ऐसा प्रतीत होता है जैसा आरम्भ

पड़ गया—

दुख सुख ग्रीषम औ' सिसिर न व्यापै जिन्हैं,
छापै छाप इकै हिये ब्रह्म-ज्ञान-साने मैं।
कहै रत्नाकर गँभीर सोई ऊधव कौ,
धीर उधरान्यौ आनि ब्रज के सिवाने मैं॥

उद्धव के अद्वैत के उपदेश को सुनकर गोपियाँ कितना सीधा-सादा किन्तु तर्कसंगत उत्तर देती हैं—

'जैहै बनि-बिगरि न बारिधता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

इसी प्रकार गोपियों ने उद्धव के प्रत्येक तर्क, युक्ति व प्रमाणों का एक-एक करके अनायास ही खंडन कर डाला। उनकी प्रत्येक उक्ति में तर्कानुमोदित प्रभविष्णुता का पुट है, देखिए—

एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा॥

....

कर-बिनु कैसे गाय दुहिहैं हमारी वह,
पद-बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।

....

रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारे काम आइहै॥

कृष्ण के बिना उन्हें मुक्ति की भी आवश्यकता नहीं। वे कहती हैं—

ऊधौ मुक्ति-माल बृथा मढ़त हमारे गरैं,
कान्ह बिना तासौं कहौ काकौ मन मोहैंगी।

सूरदास आदि की भाँति रत्नाकर जी की गोपियाँ श्रीकृष्ण को लक्ष्य रखकर अनेक व्यंग्य वचन कहती हैं; पर रत्नाकर जी की गोपियों

चित्र निम्न पद्यार्ध में देखिए—

दिननि के फेर सौं भयो है हेर-फेर ऐसौ
जाकौं हेरि फेरि हेरि श्रौई हेरिबौ करैं।
फिरत हुते जु जिन कुंजनि में आठौं जाम
नैनन मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं॥

इस पर उद्धव उन्हें अद्वैत की भावना का स्मरण कराकर इस प्रेम-प्रपञ्च से दूर रहने का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि—

घात में लगे हैं ये बिसासी ब्रजबासी सबै,
इनके अनोखे छल-छंदनि छलौ नहीं।
....
गोपिनि मैं, आप मैं, बियोग औ' संजोग हूँ मैं
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आपु ही सौं आपु कौ मिलाप औ' बिछोह कहा
मोह यह मिथ्या सुख-दुःख सब ठायो है॥

श्रीकृष्ण इसके उत्तर में उद्धव को केवल इतना ही कहते हैं—

आवो एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आँखिनि सौं,
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम॥

इस पर उद्धव बड़े उत्साह के साथ गोपियों को भी अद्वैत का उपदेश देकर समझाने के लिए चल पड़े। कवि उनके इस उत्साह का चित्र अंकित करता हुआ कहता है—

लै कै उपदेश औ' सँदेस-पन ऊधौ चले,
सुजस-कमाइवैं उछाह-उदगार मैं।

किन्तु ब्रज की गलियों में पहुँचते ही उनके इस उत्साह पर पानी

उन गोपियों की बातों में हवा हो गया। वे वैराग्य की तूमड़ी में प्रेम-रस भर कर तथा ज्ञान की गुदड़ी में अनुराग-रूपी रत्न लेकर लौट आये। इस समय के उनके एक अत्यन्त भावमग्न चित्र की झाँकी भी देखते चलिए—

प्रेम-मद छाके पग परत कहाँ के कहाँ,
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।
कहै रतनाकर यौं आवत चकात ऊधौ,
मानौ सुधियात कोऊ भावना भुलाई है॥
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं,
सारत बहोलिनि जो आँस अधिकाई है।
एक कर राजै नवनीत जसुदा कौ दियौ,
एक कर बंसी बर राधिका पठाई है॥

अन्त में वे भगवान् श्रीकृष्ण से यहाँ तक कह देते हैं कि गोपियों के अनन्य प्रेम को आप पर प्रकट कर आपको गोकुल जाने के लिए उत्साहित करने के लिए ही मैं यहाँ आ गया हूँ अन्यथा वहाँ से कभी न आता—

छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना कैं तीर,
गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं।
....
....
होतो चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ,
तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं॥

कहाँ तक कहें, 'उद्धवशतक' का प्रत्येक पद हिन्दी के साहित्य-भण्डार का एक अमूल्य रत्न है। हमारा विश्वास है कि रत्नाकर जी और कुछ भी न लिख कर केवल 'उद्धवशतक' लिख जाते तब भी उनका हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठतम कलाकारों में अपना विशेष स्थान बन जाता।

की उक्तियों में जो मार्मिकता, विदग्धता और अनुपम कलात्मकता है वह वास्तव में दर्शनीय है। श्रीकृष्ण पहले उन्हें प्रेम के रंग में रँग कर फिर उनसे किनारा कर गये, इस भाव का साङ्गरूपक में आरम्भ से अन्त तक किस प्रकार सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है, देखिए—

प्रथम भुराइ चाय-नाय पै चढ़ाइ नीकैं
न्यारी करि कान्ह कुल-कूल हितकारी तैं।
प्रेम-रतनाकर की तरल तरंग पारि
पलटि पराने पुनि प्रन-पतवारी तैं,
और न प्रकार अब पार लहिबै कौ कछू,
अटकि रही हैं एक आस गुनवारी तैं,
सोऊ तुम आइ बात विषम चलाइ हाय,
काटन चहत जोग-कठिन कुठारी तैं॥

आगे वे कहती हैं कि हमारे इस प्रेम के पर्वत को तुम अपनी बातों की फूँक से उड़ा देना चाहते हो, जो सर्वथा असम्भव है। निम्न पद में 'बात' का चमत्कार किस प्रकार निखर उठा है—

दौनाचल कौ ना यह छुटक्यौ कनूका जाहि,
छाइ छिगुनी पै छेम-छत्र छिति छायो है।
कहै रतनाकर न कूबर बधू-बर कौ
जाहि रंच राँच पानि परसि गँवायौ है॥
यह गुरु प्रेमाचल दृढ़-व्रत-धारिनि कौ,
जाकै भार भाव उनहूँ कौ सकुचायौ है।
जानै कहा जानि कै अजान है सुजान कान्ह,
ताहि तुम्हैं बात सौं उड़ावन पठायौ है॥

कहाँ तक कहें, गोपियों की एक-एक युक्तियुक्त उक्ति हृदय पर सीधा प्रभाव डालने वाली है। इसीलिए उद्धव का सम्पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान

भी यत्र-तत्र भरी गई हैं, श्मशान-वर्णन आदि में वँधी-वँधाई परम्परा का पालन-मात्र होने के कारण प्रकृति के वास्तविक स्वरूप का विकास भी जहाँ-तहां अवरुद्ध-सा हो गया है, फिर भी यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि व्रजभाषा में इससे सुन्दर दूसरी कोई रचना, जिसमें उक्त दोष न हों, दुर्लभ ही है। संक्षेप में कह सकते हैं कि बिहारी की वाग्विदग्धता, भूषण की ओजस्विता, सूर की तन्मयता, नन्ददास की विचक्षणता, रसखान की सहृदयता एवं पद्माकर की कलात्मकता के एकत्र दर्शन करने हों तो रत्नाकर जी के प्रमुख काव्यों का अवलोकन कर लीजिए। उनकी कला में उक्त गुणों का अपूर्व सामंजस्य है। इसी आधार पर कह सकते हैं कि रत्नाकर जी को श्रमसाध्य कवि कहना उनके प्रति सर्वथा अन्याय ही है। 'उद्धवशतक' और 'गंगावतरण' की अधिकांश कविताओं में कवि का अन्तरतम स्वतः रस के निष्यन्द के रूप में प्रवाहित हो चला है। ऐसी रसाप्लावित कविताओं को आयास-काव्य कदापि नहीं कहा जा सकता। उनके काव्यों में सरसता, स्वाभाविकता के साथ अद्भुत कलात्मकता का पूर्ण परिपाक हुआ है। इन्हीं गुणों के आधार पर तो रत्नाकर जी को समग्र आलोचकों ने एक स्वर से आधुनिक व्रजभाषा का प्रतिनिधि कवि स्वीकार किया है।

जैसा कि पहिले कहा गया है रत्नाकर जी की पूर्ववर्ती रचनाओं पर पद्माकर जी का प्रभाव है; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सर्वांशतः पद्माकर जी के अनुयायी हों। रीतिकाल के अधिकांश कवियों के समान उनकी रचनाएँ बाह्य-चमत्कार-प्रधान भी नहीं हैं।

रत्नाकर जी की कविताओं में भावों और रसों के सरस स्रोत अजस्र-रूप से प्रवाहित होते रहते हैं, जिनमें पाठक की प्रतिभा तन्मय हो जाती है। रसों के अतिरिक्त भावोदय, भावसन्धि और भावशान्ति का भी एक सुन्दर उदाहरण देखिए। स्वर्ग को छोड़कर पृथ्वी पर आते समय गंगा के हृदय में बड़ा भारी क्रोध था और वह सोच रही थी कि—

गंग कह्यौ उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं।
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि हर-संग मही मैं॥
लै स-वेग-विक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊँ।
ब्रह्म-लोक कौं बहुरि पलटि कंदुक-इव आऊँ॥

किन्तु भगवान् शिव के दिव्य रूप को देखते ही उसका वह क्रोध शान्त हो गया और प्रेम के भाव प्रकट होने लगे—

भई थकित छवि छकित हेरि हर-रूप मनोहर।
ह्वै आनहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर॥
भयौ कोप को लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष-रुखाई॥

इस प्रकार व्रजभाषा-काव्य में भाव, भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से रत्नाकर जी ने एक मौलिक नूतनता प्रदान कर उसे आधुनिक युग के अनुरूप स्वरूप प्रदान किया। यद्यपि उनके काव्य में कहीं-कहीं अस्वाभाविक चमत्कार व पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावनाएँ भी दिखाई दे जाती हैं और फ़ारसी के प्रभाव के कारण दूर की उड़ानें

कि "तू आगे चलकर हमसे हज़ार गुना अच्छी कविता करेगा।" इस प्रकार कवित्व और रामभक्ति दोनों उन्हें पिताजी से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुईं। द्विवेदी जी की प्रेरणा व प्रोत्साहन से उनकी काव्य-प्रतिभा चमत्कृत हो उठी। आरम्भ में वे कलकत्ते के जातीय पत्र में अपनी रचनाएँ प्रकाशनार्थ भेजते रहे। कुछ ही समय पश्चात् वे 'सरस्वती' में भी अपनी रचनाएँ भेजने लगे। द्विवेदी जी इनकी रचनाओं को काट-छाँट कर, सजा-सँवार कर प्रकाशित करते। एक बार गुप्त जी ने एक कविता द्विवेदी जी को भेजी। 'सरस्वती' में उसे शीघ्र प्रकाशित न देखकर गुप्त जी के धैर्य का बाँध टूट गया। इन्होंने उसे तत्काल जातीय साप्ताहिक पत्र में भेजकर प्रकाशित करवा दिया। इधर कुछ दिनों पश्चात् 'सरस्वती' में भी वह कविता एक नवीन आकर्षक, निखरे हुए रूप में प्रकाशित होकर उनके पास आ पहुँची। साथ ही द्विवेदी जी का एक पत्र भी था, जिसमें उन्हें लिखा गया था—"कविता के मूल रूप और इस रूप में कितना अन्तर है—ध्यान से देखें। किसी कविता को हमारे पास प्रकाशनार्थ भेजने पर यदि हम उसे छाप दें तो ठीक, यदि नहीं छापें तो समझो कि वह छपने योग्य नहीं है। उसे अन्यत्र प्रकाशनार्थ मत भेजो।" इस हार्दिक सहानुभूति को पाकर गुप्त जी का अन्तरतम सचमुच पुलकित हो उठा। फिर तो उन्होंने एक के बाद दूसरे ऐसे रचना-रत्न भगवती भारती के चरण-कमलों में अर्पित किये, जिनसे उसका भंडार जगमगा उठा। तब से लेकर आज तक गुप्त जी सतत जागरूक भाव से साहित्य-साधना करते चले आ रहे हैं।

अपने कविता-गुरु श्री द्विवेदी जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए साकेत के प्रारम्भ में कवि ने उनका कितनी श्रद्धा से स्मरण किया है, देखिए—

करते तुलसी भी कैसे मानस-नाद।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद॥

श्री मैथिलीशरण गुप्त

जन्म संवत् १६४३

गुप्त जी का जन्म श्रावण शुक्ला द्वितीया सोमवार संवत् १६४३ को चिरगाँव ज़िला झाँसी में हुआ। इनके पिता सेठ रामचरण जी भी काव्य-प्रेमी भावुक भक्त थे। वे स्वयं भी कविता किया करते थे। सेठ जी के पाँच पुत्रों में से दो श्री मैथिलीशरण और श्री सियारामशरण सरस्वती की अनन्य आराधना के द्वारा लक्ष्मी देवी के भी कृपापात्र बन गये और शेष तीन भाई व्यापार-व्यवसाय ही में लगे रहे।

गुप्त जी की शिक्षा-दीक्षा चिरगाँव में ही हुई। यद्यपि मेकडानल हाई स्कूल, झाँसी में भी उन्हें पढ़ने के लिए भेजा गया था पर वहाँ मन न लगने के कारण वापिस घर बुला लिया गया, और घर पर ही पढ़ाई का प्रबन्ध कर दिया गया। हिन्दी, अंग्रेज़ी, गणित आदि के साथ संस्कृत की शिक्षा भी बचपन से ही दी गई थी। अमरकोष को दोनों भाइयों ने बचपन में ही कंठस्थ कर डाला था। हिन्दी के प्रसिद्ध मुसलमान कवि श्री मुन्शी अजमेरी की देख-रेख में दोनों भाइयों का अध्ययन सुचारु रूप से चलने लगा। मुन्शी अजमेरी जी को सेठ रामचरण जी अपना छठा पुत्र मानते थे। मुन्शी जी की कहानी और कंठस्थ कराई कविताओं ने गुप्त जी की काव्य-प्रतिभा को अंकुरित व पल्लवित किया, तथा द्विवेदी जी के गुरुत्व ने उसे पुष्पित तथा फलित बनाया। उनकी यह काव्य-प्रतिभा बचपन में ही प्रकट होने लगी थी। बचपन में इनके बनाये हुए एक छन्द को देखकर इनके पिताजी ने आशीर्वाद दिया था

(१९३४) इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं।

३. ऐतिहासिक कथानक काव्य—इन कथात्मक रचनाओं को वैदिक काल से लेकर आज तक के निम्न दस सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक युगों के आधार पर विभक्त किया जा सकता है।

(१) वैदिक युग—गुप्त जी की नवीनतम छोटी-सी रचना दिवोदास (१९५१) में पुराणप्रतिपादित वैदिक युग का कथानक है। नहुष (१९४०) में भी वही युग प्रतिबिम्बित होता है। शकुन्तला (१९२३) का कथानक भी इस युग के अन्तिम भाग से सम्बद्ध है। (२) पंचवटी (१९२५) तथा साकेत (१९३२) में रामायण-काल का प्रतिनिधित्व है। (३) जयद्रथवध (१९१०), त्रिपथगा—वक-संहार, वन-वैभव और सैरन्ध्री (१९२८), द्वापर (१९३६) इन तीनों में महाभारत-युग की कथा है। (४) शक्ति (१९२८) में पौराणिक युग मुखरित हो रहा है। (५) यशोधरा (१९३३), कुणाल (१९४२), अनघ (१९२५) में बौद्धकालीन गाथाएँ अंकित हुई हैं। (६) सिद्धराज (१९३६) में मध्य-युग के इतिहास की झांकी है। (७) कावा और करबला (१९४४) इस्लाम के उदय-काल से सम्बद्ध है। (८) गुरुकुल (१९२९) में सिक्खों के दश गुरुओं के चरित्रों की अवतारणा है। (९) रंग में भंग (१९१०) और विकट भट (१९२९) में राजपूत-युग का शौर्य मुखरित हुआ है। (१०) किसान (१९१७) तथा अजित (१९४३) में आधुनिकतम युग को अभिव्यक्ति दी गई है। इनके अतिरिक्त अर्जन और विसर्जन में ईसाई-संस्कृति तथा तिलोत्तमा और चन्द्रहास नामक नाटक पौराणिक आधार पर लिखे गये हैं।

'भारत-भारती', 'स्वदेश-संगीत', 'वैतालिक', 'किसान', 'अजित', 'हिन्दू' और 'पत्रावली' नामक रचनाएँ राष्ट्रीय श्रेणी में आती हैं। बात तो यह है कि यह युग मुख्य रूप से भारत के राष्ट्रीय जागरण का युग है। गुप्त जी ने अपनी इन कलाकृतियों के द्वारा राष्ट्रीयता के स्वर को घर-घर में

हम देखते हैं कि गुप्त जी के हृदय में रामभक्ति, देशभक्ति तथा प्राचीनता के प्रति अनुरक्ति-रूप त्रिवेणी का संगम हो गया है। परम्परा की दृष्टि से आप श्रीसम्प्रदाय के अनुयायी ठहरते हैं, पर आप में साम्प्रदायिक संकीर्णता का लेश भी नहीं है। सर्वधर्म-समन्वयमूलक सारग्राहिणी उदारता की भावना आप में स्वभावसिद्ध है। आपके इन्हीं महनीय गुणों से प्रभावित होकर हमारे गुणग्राही राष्ट्रपति माननीय श्री राजेन्द्रप्रसाद जी ने आपको भारतीय संसद के वरिष्ठ भवन (राज्यपरिषद्) का अपनी ओर से मनोनीत सदस्य निर्वाचित कर सर्वाधिक सम्मान प्रदान किया है। आपको राष्ट्रीय भावनाओं के प्रमुख प्रतिनिधि-कवि के रूप में स्वीकार किया जा चुका है। आपकी रचनाएँ गुणोत्कर्ष और परिमाण दोनों दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं। राष्ट्र में विगत चालीस वर्षों से जो भाव-धारा प्रवाहित होती रही उसे काव्य का रूप प्रदान कर आपने सदा के लिए अमर कर दिया है। इनका साहित्य इतना अधिक विशद और विशाल है कि कोई भी पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यद्यपि उन्होंने अधिकतर सभी-की-सभी रचनाएँ प्राचीन ऐतिहासिक गौरव-गाथाओं के आधार पर ही रची हैं फिर भी उनमें यथास्थान योग्य कवि ने मौलिक उद्भावनाओं का ऐसा सुन्दर पुट लगा दिया है, जिससे वे आधुनिक युग के नवीनतम विचारक के लिए भी ग्राह्य एवं समादरणीय बन गई हैं। गुप्त जी की समग्र रचनाओं को निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. राष्ट्रीय व जातीय विचारात्मक काव्य—भारत-भारती (१९१२), स्वदेश-संगीत (१९२५), वैतालिक (१९१९), किसान (१९१७), अजित (१९४३) राष्ट्रीय रचनाएँ हैं। हिन्दू (१९२७) और पत्रावली (१९२२) जातीय रचनाएँ हैं।

२. भावात्मक गीति-काव्य—झंकार (१९२९) और मंगलघट

भूमि पर ही विचरण करते हैं। प्रायः अन्य सभी काव्यों में लक्ष्मण का चित्र हार्दिक भावनाओं से शून्य एक वीर के रूप में ही अंकित किया गया है। किन्तु 'पंचवटी' के लक्ष्मण में वीरता के साथ हार्दिकता भी लक्षित होती है। 'पंचवटी' गृहस्थ-जीवन का एक सजीव चित्र है। इसमें सीता और लक्ष्मण के शिष्ट हास-परिहास हैं और प्रसङ्गों में एक सजीव नाटकीयता है। प्रकृति के सौंदर्य का दर्शन भी गुप्त जी के काव्यों में सर्वप्रथम इसी में होता है—

चारु चंद्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी छिटक रही है अवनि और अम्बरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानो झूम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोंकों से।

इस मनोमोहक प्रकृति की पृष्ठभूमि पर वीरवर यति लक्ष्मण की कैसी सजीव अवतारणा हुई है—

जाग रहा है कौन धनुर्धर जबकि भुवन-भर सोता है।
भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है॥

इसके पश्चात् स्वयं लक्ष्मण के उद्गारों में उनके मानसिक जगत् का सरस चित्र अंकित किया गया है। विरहिणी उर्मिला का स्मरण कवि यहाँ भी बड़ी सहानुभूति के साथ करता है। इसी समय शूर्पणखा सुन्दरी के वेष में उपस्थित होती है। यहाँ सौंदर्य का संश्लिष्ट प्रौढ़ चित्र गुप्त जी के काव्यों में सर्वप्रथम अंकित हुआ है—

कटि के नीचे चिकुर जाल में, उलझ रहा था बायाँ हाथ।
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल लहरों के साथ॥
दायाँ हाथ लिये था सुरभित चित्र-विचित्र सुमनमाला।
टाँग धनुष की कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला॥

लक्ष्मण-शूर्पणखा में वार्तालाप हो ही रहा था कि उषा की आभा के साथ सीता का भव्य रूप में प्रवेश होता है—

गुँजा दिया। इसीलिए उन्हें 'राष्ट्रीय जागरण का वैतालिक' कहा गया है।

भारत-भारती—इस पर हाली के मुसद्दस का पर्याप्त प्रभाव प्रतीत होता है। इसके लिखने की प्रेरणा द्विवेदी जी से ही प्राप्त हुई थी। यह गुप्त जी की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। काव्य-कला के स्थान पर उपदेशात्मकता की प्रधानता होते हुए भी जनमन को सबसे अधिक इसी ने प्रभावित किया है।

'वैतालिक' और 'स्वदेश-संगीत' कथात्मक न होकर भावात्मक राष्ट्रीय काव्य हैं।

'अजित' एक काल्पनिक कथा है। इसमें सामयिक इतिहास और राष्ट्रीयता का सुन्दर समन्वय हुआ है। गुप्त जी ने इसे सन् १९४३ में जेल में ही लिखा था। पहले इसका नाम 'कारा' रखा गया था। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के समान इस काव्य में भी भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का सजीव चित्र अंकित हुआ है।

किसान—इसमें एक ऐसे किसान की करुण कथा है जो अफ्रीका में कष्टमय जीवन बिताकर महायुद्ध में मारा जाता है।

हिन्दू—इसमें हिन्दू-जागृति का शंखनाद बजाया गया है। इसमें भारत की भव्य झाँकी भी दर्शनीय है।

पत्रावली—यह भी 'स्वदेश-संगीत' के समान कथात्मक काव्य नहीं है। 'स्वदेश-संगीत' में जहाँ राष्ट्रीय भावनाएँ विकसित हुई हैं, वहाँ 'पत्रावली' में जातीय भावनाएँ।

रामायणकालीन काव्यों में 'पंचवटी' और 'साकेत' की गणना की जा सकती है।

पंचवटी—इसमें ही सर्वप्रथम गुप्त जी की काव्य-कला का स्वरूप स्पष्ट हुआ है। यहाँ प्रकृति के साथ कवि के अन्तर् का सामञ्जस्य दिखाई देता है। कवि उपदेशात्मकता छोड़ काव्य-सौन्दर्य में रम रहा है। 'पंचवटी' के राम, लक्ष्मण और सीता मानवता की सामान्य भाव-

दर्शन होते हैं। एक नमूना देखिए :—

टंकार ही निर्घोष था, शरवृष्टि ही जल-वृष्टि थी,
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युद्-दृष्टि थी।
गांडीव रोहित रूप था, रथ ही सशक्त समीर था,
उस काल अर्जुन वीरवर अद्भुत जलद गम्भीर था॥

शकुन्तला—'जयद्रथवध' के पश्चात् एक छोटा-सा खंडकाव्य 'शकुन्तला' आता है। इसका कथानक कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक पर आधारित है। शकुन्तला की तन्मयता और दुर्वासा के रौद्र-रूप की अवतारणा सुन्दर हुई है। इसी बीच गुप्त जी 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' नामक छोटे-छोटे पौराणिक नाटक भी हिन्दी-साहित्य को देते गये।

त्रिपथगा—इसमें 'वक-संहार', 'वन-वैभव' और 'सैरन्ध्री' नामक तीन छोटे-छोटे काव्य सम्मिलित हैं। इस समय तक राष्ट्र में हिन्दू-मुस्लिम-एकता की भावना उद्बुद्ध हो चुकी थी। 'वन-वैभव' की निम्न पंक्तियों में इसी भाव को व्यक्त किया गया है—

जहाँ तक है आपस की आँच, वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच गिने तो हमें एक सौ पाँच॥

शक्ति—इसमें भगवती की दुष्ट-दलन-कारिणी दिव्य शक्ति का वर्णन किया गया है। साथ ही—

'संघ-शक्ति ही कलि-दैत्यों का मेटेगी आतंक।'

के द्वारा सामूहिक संघ-शक्ति का भी आदर्श उपस्थित किया गया है। यह 'दुर्गासप्तशती' के आधार पर निर्मित खण्डकाव्य है।

नहुष—इसमें इन्द्र-पदवी पर पहुँचे हुए नहुष का ऋषियों के शाप के कारण पतन और फिर अपने कर्मों के द्वारा उत्थान के दृढ़ संकल्प की कथा है।

द्वापर—इसमें श्रीकृष्ण-कथा कही गई है। इसकी विस्तृत आलोचना आगे की जायगी।

इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-नटी का रंग।
किरण-कण्टकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग॥
कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोल कर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी॥
अहा अम्बरस्था ऊषा भी, इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी।
अवनी की ऊषा सजीव थी, अम्बर की सी मूर्ति न थी॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी का कवित्व सर्वप्रथम 'पंचवटी' में ही निखरा है। भाषा की प्रौढ़ता का प्रारम्भ भी इसी से होता है। 'पंचवटी' को 'साकेत' की भूमिका कहा जा सकता है। 'साकेत' की समीक्षा आगे चलकर की जायगी।

जयद्रथवध—यह महाभारत के आधार पर हरिगीतिका छन्द में लिखा हुआ खण्डकाव्य है। इसमें वीर और करुण रसों की अवतारणा बड़े सुन्दर रूप में हुई है। अभिमन्यु के साथ उत्तरा का चरित्र भी सफलतापूर्वक अंकित किया गया है। 'जयद्रथवध' से गुप्त जी ने अपने पूर्वजों के चरित्रगान की जिस पावन धारा को प्रवाहित किया था, वह आज तक कोटि-कोटि प्राणों को पावन और परितृप्त करती हुई सतत गति से वहती चली आ रही है। कहीं उसकी गति तीव्र और कहीं मन्थर हो गई है। कहीं वह धारा गम्भीर और कहीं उथले रूप में लक्षित होती हुई भी कभी अवरुद्ध नहीं होने पाई। पतित-पावनी, लोक-कल्याण-कारिणी सुरसरि की ऐसी पावन धारा का ऐसा अविरल स्रोत अन्य किसी कलाकार की वाणी के विवर से व्यक्त नहीं हुआ। 'जयद्रथ-वध' के आरम्भ में कवि ने अपने उस लक्ष्य को निम्न शब्दों में उद्घोषित किया है—

वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकीजीवन कहो।
फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा-तरंगों में बहो॥

'जयद्रथवध' में गुप्त जी की भाषा में प्रवाहमयता के सर्वप्रथम

की रचना कर डाली गई। इसमें मुहम्मद साहब तथा हसन और हुसैन के उदात्त चरित्रों की अवतारणा की गई है।

गुरुकुल—इसमें गुरु नानक से लेकर गुरु गोविन्दसिंह तक दस गुरुओं की जीवनियाँ तथा उनकी विचारधाराएँ एक-साथ संकलित की गई हैं। यह रचना बहुत प्रौढ़ नहीं बन पाई।

विकट भट और रंग में भंग—ये दोनों राजपूतकालीन ऐतिहासिक काव्य हैं। इन दोनों में राजपूतों की आन, बान और शान का वर्णन उत्साहवर्द्धक शब्दों में किया गया है।

अर्जन और विसर्जन—इस काव्य में ईसाई-संस्कृति को व्यक्त किया गया है।

गीति-काव्य : झंकार—छायावाद और रहस्यवादात्मक काव्यों के पर्याप्त प्रचलित हो जाने पर गुप्त जी ने भी इस ढंग की कविताएँ या गीत लिखने का प्रयास किया था। 'झंकार' में ऐसे मुक्तक गीतों का संकलन किया गया है जिनकी रचना १९१२ ईसवी के पश्चात् हुई और जिन पर रवि बाबू की 'गीतांजलि' का स्पष्ट प्रभाव है।

मंगल-घट—इसमें 'केशो' की कथा 'स्वर्ग-सहोदर' आदि कई कथात्मक कविताएँ तथा अनेक रहस्यात्मक छोटे-छोटे गीत संकलित हैं। साथ ही राष्ट्रीय कविताओं को भी स्थान मिला है। 'निर्झर' शीर्षक कविता देखिए—

शत-शत बाधा-बंधन तोड़, निकल चला मैं पत्थर तोड़।
प्लावित कर पृथ्वी के पर्त, समतल कर बहु गह्वर-गर्त।
दिखलाकर आवर्त-विवर्त, आता हूँ आलोड़-विलोड़।

गुप्त जी की छोटी रचनाओं पर विचार करने के पश्चात् अब यहाँ उनकी कीर्ति के तीन प्रमुख स्तम्भ-स्वरूप प्रधान काव्यों पर विचार किया जाता है।

कुणाल—यह गुप्त जी की नवीन रचनाओं में से एक है। इसकी रचना भी गुप्त जी ने राजवन्दी की अवस्था में की थी। उनके इस जीवन का प्रभाव इसमें स्पष्ट लक्षित होता है। इसमें अशोक के पुत्र कुणाल की कथा कही गई है। इसके गीतों में बुद्ध के मैत्री, करुणा आदि उपदेशों के साथ विश्वबन्धुत्व की भावना स्पष्ट प्रकट हो रही है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और मानवता के सिद्धान्तों की भी इसमें यत्र-तत्र झलक आ गई है।

सिद्धराज—इसमें मध्यकालीन शौर्य-गाथा का ओजस्वी वर्णन है। ऐतिहासिक आधारों पर स्थित इस काव्य में तथ्यों की हत्या नहीं की गई। इस सम्बन्ध में गुप्त जी स्वयं लिखते हैं कि पुस्तक में जो घटनाएँ हैं वे ऐतिहासिक हैं, परन्तु उनका क्रम संदिग्ध है। इसलिए लेखक ने उसे अपनी सुविधा के अनुसार बना लिया है। जो अंश काल्पनिक हैं वे आनुषंगिक हैं और उनसे ऐतिहासिकता में कोई बाधा नहीं आती। गुप्त जी के सारे ऐतिहासिक काव्यों में इसे प्रौढ़तम माना जाता है। अन्तर्द्वन्द्व-जैसे प्रभावशाली चित्र इसमें मिलते हैं जो गुप्त जी के अन्य काव्यों में दुर्लभ हैं।

अनघ—यह काव्य बौद्ध कथानक को लेकर लिखा गया है। इस पर भी गाँधीवाद का प्रभाव स्पष्ट है। बौद्ध-धर्म की अहिंसा और गाँधी जी की अहिंसा में स्पष्ट साम्य है। अतः बौद्ध-युग के काव्यों पर गाँधीवाद का रंग अनायास ही चढ़ाया जा सकता है।

काबा और कर्बला—यह गुप्त जी की नवीनतम रचनओं में से है। अब तक गुप्त जी ने हिन्दू, सिक्ख और ईसाई-संस्कृतियों की विशेषताओं को व्यक्त करने वाले अनेक काव्य लिखे, किन्तु गाँधी जी हिन्दू-मुस्लिम-एकता के बड़े भारी पक्षपाती थे और गुप्त जी गाँधी जी के अनन्य अनुयायी हैं। फलतः गाँधी जी की भावनाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति देने के लिए 'काबा और कर्बला' नामक काव्य

कह सकते हैं कि महाकाव्य की दृष्टि से तो 'साकेत' भी उस रूप में उतने ही अंशों तक सफल कहा जा सकता है जितना कि 'प्रियप्रवास'। यद्यपि 'प्रियप्रवास' की अपेक्षा इसमें कुछ घटनाओं का विस्तार अधिक है, पर प्रबन्ध-परम्परा यहाँ भी आठवें सर्ग से विच्छिन्न-सी हो जाती है। साथ ही कथा का एक बड़ा भाग यहाँ भी विभिन्न पात्रों के मुख से ही सुना दिया जाता है। बात तो यह है कि कवि के साथ चिपटे रहने के मोह ने उसे ऐसा करने के लिए बाध्य कर दिया था। और उसने 'साकेत' में ही किसी-न-किसी प्रकार सारी राम-कथा का ताल-मेल बैठा भी दिया है। पर ऐसी क्लिष्ट कल्पना से काव्य-कौशल प्रकट हो जाने पर भी लेखक अनेक अपरिहार्य अस्वाभाविक असंगतियों के दोष से नहीं बच पाया। जिस प्रकार 'प्रियप्रवास' के विभिन्न सर्गों में पृथक्-पृथक् पात्रों के मुख से कृष्ण की कीर्ति की कथा कहलवाई गई है वैसे ही 'साकेत' में भी श्रीरामचन्द्र का चारु चरित्र विविध व्यक्तियों के द्वारा व्यक्त कराया गया है। उन्होंने प्रथम आठ सर्गों में असली अयोध्या-काण्ड बैठाया है। दशम सर्ग में उर्मिला सरयू को बालकाण्ड कह सुनाती है। एकादश सर्ग में हनुमान् भरत जी को अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड और कुछ लंकाकाण्ड की कथा सुनाते हैं। शत्रुघ्न किसी व्यवसायी द्वारा सुनी अरण्यकाण्ड की आधी कथा को भी इसी काण्ड में दुहराता है। हनुमान् जी के जाने के पश्चात् की कथा वशिष्ठ जी अपने योगबल से दिखा देते हैं।

इस प्रकार यह एक दैवयोग से घटने वाली बड़ी ही अद्भुत आकस्मिक घटना है कि खड़ीबोली के दो आरम्भिक महाकाव्यों में घटना-निर्देश का एक ही जैसा अस्वाभाविक क्रम रखा गया है। हनुमान् जी द्वारा रामायण के तीन काण्डों की कथा सुनवाना तो और भी स्वाभाविकता से असम्पृक्त है। उन्हें इतनी फुरसत ही कहाँ थी कि वे इतनी लम्बी-चौड़ी रामकहानी सुनाने के लिए निश्चिन्त होकर बैठ

साकेत

'साकेत' का महाकाव्यत्व—

सामान्यतया 'साकेत' के समालोचकों का यह सर्वसम्मत-सा मत बन गया है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से काव्य की उपेक्षिता उर्मिला को पाठकों के दृष्टिपथ में ला देने के लिए ही 'साकेत' का निर्माण हुआ है। माना कि ग्रन्थ का आरम्भ और उपसंहार भी लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन के साथ ही हुआ है, और मध्य में भी उर्मिला ने पर्याप्त पृष्ठ घेर लिये हैं, तथापि हम यह नहीं कह सकते कि केवल उर्मिला का चित्र अंकित करने के उद्देश्य से ही 'साकेत' का प्रणयन हुआ है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कवि ने जहाँ रामायण के अन्य उपेक्षित पात्रों के प्रति अपनी सहानुभूति का संचार कर समाज के सम्मुख उनका मस्तक ऊँचा करने का प्रयास किया है वहाँ उर्मिला को भी उसने भुलाया नहीं; उसके प्रति कुछ विशेष सहानुभूति दिखलाई है। यों विचार करके देखा जाय तो 'साकेत' में कैकेयी ने अपेक्षाकृत कम स्थान रोक कर भी पाठकों को अपनी ओर सबसे अधिक आकृष्ट कर लिया है। चित्रकूट में पश्चात्ताप में पड़ी और अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत कैकेयी की करुणाकलित मूर्ति को देखकर एक बार तो कैकेयी के कुकृत्यों के कारण क्रुद्ध हुआ कठोर-से-कठोर हृदय भी द्रवित हो उठता है। इसी प्रकार शेष सब पात्रों के विषय में भी समझा जा सकता है। अतः सिद्ध होता है कि केवल उर्मिला का चित्र अंकित करना ही इस महाकाव्य का लक्ष्य नहीं है। यदि ऐसा होता तो इसकी महत्ता बहुत-कुछ अक्षुण्ण न रह पाती। क्योंकि कवि उर्मिला के विरह-वर्णन के प्रसंग में अपेक्षाकृत सफल हुआ है। फलतः व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर 'साकेत' एक सफल काव्य अवश्य प्रतीत होता है, पर एक श्रेष्ठ महाकाव्य भी इसे कहा जाय—इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। स्पष्ट शब्दों में कहना चाहें तो

इतना सब-कुछ होने पर भी काव्य की दृष्टि से 'साकेत' एक अत्यन्त सुन्दर कृति है। इसके द्वारा हिन्दी-साहित्य के उत्कृष्टतम काव्य-रत्नों के भंडार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि 'साकेत' की रचना का प्रमुख उद्देश्य न तो विस्मृत उर्मिला का जीवन अंकित करना है और न राम-गुणगान ही, अपितु भारत के राष्ट्र-धर्म का, आर्य-संस्कृति का पुनरुत्थान एवं प्रसार ही इसका सबसे बड़ा लक्ष्य है। राम-कथा साधन है और साध्य तो है— भारतीय संस्कृति का महत्त्व। कवि इस काव्य में अपने इस लक्ष्य में पूर्णतया सफल हुआ है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि समालोचक व सहृदय रसिक पाठक दो विभिन्न श्रेणियों के प्राणी हैं। समालोचक की दृष्टि और है तथा सामान्य पाठक की उससे भिन्न। अतः सहृदय रसिक को साहित्य-शास्त्र के इन झमेलों से कुछ प्रयोजन नहीं कि यह महाकाव्य है या काव्य या खण्डकाव्य या मुक्तक, वह तो रस का संचार चाहता है। 'साकेत' के प्रत्येक पाठक को पूर्ण आत्मतृप्ति प्राप्त होती है, अतः इसे हिन्दी का एक उत्कृष्टतम काव्य-ग्रन्थ माना जायगा।

'साकेत' का नवम सर्ग—

कल्पनाकुशलता, मार्मिकता, विदग्ध व्यंजना व रसानुभूति आदि सभी दृष्टियों से साकेत के नवम सर्ग में तथा अन्यत्र वर्णित उर्मिला का विरह अत्यन्त हृदयहारी बन गया है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। किन्तु गुप्त जी ने वियोगोद्गारों को प्रकट करने के लिए पात्र का चुनाव कुछ विशेष उपयुक्त नहीं किया। उर्मिला के प्रियतम लक्ष्मण एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति की भावना से प्रेरित होकर कुछ समय के लिए बाहर गये हैं, उसने स्वयं ही उन्हें सहर्ष विदा किया है। न तो वे बुद्ध के समान योगी ही हो गये हैं और न नागमती के पति रत्नसेन के समान किसी अन्य नायिका के प्रेम-पाश में पड़कर

गये। इसके अतिरिक्त महाकाव्य के नायक-नायिकाओं का पद भी मानो दो समानाधिकारियों में बँटकर संदेह के भूले में ही भूल रहा है। कवि की इच्छा तो ऐसी प्रतीत होती है कि वह लक्ष्मण-उर्मिला को अपने इस महाकाव्य के नायक-नायिका बनाना चाहता था, पर उसकी इच्छा के विरुद्ध राम-सीता बरबस उस आसन को हथिया रहे हैं और कवि चुपचाप विवश-सा बैठा इस परस्वापहरण को देख रहा है।

इन्हीं सब बातों को देखकर ही तो श्री 'मानव' ने 'साकेत' के महाकाव्यत्व के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए लिखा है—

" 'साकेत' को महाकाव्य कहने का जो भ्रम हुआ है, उसका मुख्य कारण यह है कि उसमें साहित्यदर्पण के अनुसार बहुत से लक्षणों की पूर्ति का प्रयत्न किया गया है।......यह सब होते हुए भी 'साकेत' महाकाव्य नहीं है। क्योंकि ये सारी बातें एकदम बाहरी हैं। जिसका प्रबन्ध ही खंडित है वह महाकाव्य कैसे हो सकता है? महाकाव्य के लिए चार बातों के निर्वाह की अपूर्व क्षमता कवि में होनी चाहिए। ये चार बातें हैं—प्रबन्ध कथानक, चरित्रचित्रण, दृश्य-वर्णन और रस। कथानक पहली आवश्यकता है और संक्षेप में कहना चाहें तो महाकाव्य में कथानक विराट् हो, साथ ही काव्यत्व महान् हो। प्रयत्नज होते हुए भी गुप्त जी की काव्य-क्षमता में कोई सन्देह नहीं कर सकता और कथानक भी उनके सामने जैसा फैला पड़ा था, उसकी महानता में भी अविश्वास का कोई कारण नहीं था, परन्तु उस कथानक का वे ठीक उपयोग नहीं कर सके। थोड़े-से उलट-फेर के साथ ही प्रबन्ध के अक्षुण्ण रहने से अब जो 'साकेत' में सारी घटनाओं के विवरण अथवा दर्शन की अस्वाभाविकता आई वह न आ पाती और निश्चय ही 'साकेत' को महाकाव्य का रूप भी प्राप्त हो जाता।"

और—

सखि वे मुझ से कहकर जाते,
कह तो क्या मुझ से वे पथ-बाधा ही पाते ?

तो कुछ अनुचित नहीं करती। ऐसे उद्‌गार एक आदर्श रमणी के लिए सर्वथा उपयुक्त ही हैं। जब पाठक एक ओर तो यशोधरा-जैसी दुखिया और करुणा की मूर्ति के मुख से ऐसे धीर वचन सुनता है, दूसरी ओर उर्मिला को वैसे रोते-कलपते देखता है, तो उसके मुख से सहसा निकल पड़ता है कि "अच्छा होता यदि उर्मिला के आँसुओं पर यशोधरा का अधिकार होता।" क्योंकि यशोधरा का पति सदा के लिए उससे बिछुड़ गया है। उसका कुछ पता-ठिकाना भी नहीं है, वह कहाँ है, कैसा है। उसे अब अपने प्राणप्रिय को पाने की रंच भी सम्भावना नहीं है और वह भली भांति जानती है कि उसका प्राणाधार संसार का तिरस्कार कर इस भव-पारावार को पार करने के लिए, आत्म-ज्ञान का प्रसाद प्राप्त करने के प्रयत्न में ही उसे विसार गया है। अब उसे यदि उसका साक्षात्कार हो भी जायगा तो उसके अन्तर् में रससंचार न कर सकेगा। उसकी—मानस की मन्दाकिनी तो सदा के लिए सूखी ही पड़ी रहेगी और हुआ भी वैसा ही। इसके विपरीत उर्मिला का पति एक निश्चित अवधि के लिए गया है और माता-पिता से भी बढ़कर हितैषी सीता-राम की छत्र-छाया में सुरक्षित है। अतः उर्मिला को इस प्रकार शोकविधुरा दिखाना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता।

प्रियप्रवास और साकेत

खड़ीबोली के साहित्य में 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' इन दोनों महाकाव्यों का बहुत ऊँचा स्थान है। इन दोनों में पर्याप्त साम्य है। दोनों ही विष्णु के सर्वश्रेष्ठ एवं अत्यधिक लोकप्रिय अवतारों को लेकर चले हैं। दोनों ही में पौराणिक कथानक पर नवीन दृष्टि से प्रकाश

वियोगी ही बने हैं। उर्मिला स्वयं भी महान् ज्ञानी विज्ञवर महाराज जनक की कुलकन्या है, उनका-सा विवेकज्ञान उर्मिला में भी होना चाहिए था। किन्तु यहाँ तो उर्मिला एक दूसरे ही रूप में चित्रित हुई है। इसने तो प्रिय-विरह में खाना, पीना, पहनना तक छोड़ दिया है।

'साकेत' में वर्णित बारहमासा केवल कवि-परम्परा के पालन-मात्र के लिए प्रस्तुत किया गया प्रतीत होता है। उर्मिला को बहुत अधिक स्थान देने के लिए कवि के पास सिवा विरह-वर्णन के अन्य कोई उर्वर कल्पना नहीं थी। उसने यह सरल-सा घिसा-घिसाया मार्ग अपना लिया। इन्हीं सब बातों को देखते हुए गाँधी जी ने यह विचार व्यक्त किया था—"उर्मिला का विषाद यद्यपि भाषा की दृष्टि से सुन्दर है, परन्तु 'साकेत' में उसका शायद ही स्थान हो सकता।"

हम समझते हैं जैसा कि गुप्त जी ने 'निवेदन' में स्पष्ट किया है—"इच्छा थी कि सब के अन्त में अपने सहृदय पाठकों और साहित्यिक बन्धुओं के सम्मुख साकेत समुपस्थित करके अपनी धृष्टता और चपलताओं के लिए क्षमा-याचना-पूर्वक विदा लूँगा।" अच्छा होता यदि गुप्त जी अपनी इस इच्छा को ही पूर्ण करने में समर्थ होते। तब तो अत्यन्त प्रौढ़त्व की प्रतिभा के परिणामस्वरूप साकेत सम्भवतः ऐसे सरस सुन्दर रूप में प्रकट होता कि 'रामचरितमानस' के समकक्ष अपना स्थान बना लेता।

उधर गुप्त जी ने यशोधरा को अत्यन्त संयमशील, विवेकबुद्धि-सम्पन्न, गम्भीर आदर्श रमणी के रूप में अंकित किया है। यशोधरा को वैसे रूप में चित्रित करने में किसी को कुछ आपत्ति नहीं। यदि वह कहती है कि—

सिद्धि-हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात॥

वियोग-वह्नि से द्रवित हो रहा है, किन्तु 'साकेत' में अकेली उर्मिला ही विरह-पीड़ा से पीड़ित होकर करुणा-मूर्ति बनी हुई है, अन्य सभी पात्र कर्तव्य-निरत होकर अपनी धुन में लगे हैं। 'साकेत' का विरह उभयनिष्ठ नहीं है। यहाँ अकेली नायिका उर्मिला वियोगानल में जल रही है, नायक लक्ष्मण नहीं। किन्तु 'प्रियप्रवास' का विरह उभयनिष्ठ है। वहाँ नायक नायिका (राधा और कृष्ण) दोनों समान रूप से शोकातुर हैं। यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' के विरह में एक सामरस्य के दर्शन होते हैं। इसीलिए 'प्रियप्रवास' के विरह में एक स्वाभाविकता और सजीवता है। इसके विरह के उद्गार कवि के अन्तर् से निकलने पर भी पात्रों की आन्तरिक व्यथा को ही व्यक्त करते हैं, पर 'साकेत' का विरह उर्मिला का नहीं प्रत्युत कवि का अपना प्रतीत होता है। उर्मिला को मानो अपनी भावनाएँ व्यक्त करने के लिए कवि ने एक माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया है। यूँ उर्मिला का मानो उससे कोई साक्षात् सम्पर्क नहीं है।

इसके अतिरिक्त काव्य-कौशल व कला-पक्ष का जैसा आकर्षक चमत्कार 'साकेत' में लक्षित होता है वैसा 'प्रियप्रवास' में नहीं। 'प्रियप्रवास' में हृदय-पक्ष ही प्रधान है, कला-पक्ष सर्वथा गौण है, रस-व्यञ्जना का चमत्कार होते हुए भी वस्तु-व्यञ्जना का अभाव-सा ही है। पर 'साकेत' में भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। उसमें रस-व्यञ्जना के साथ-ही-साथ वस्तु-व्यञ्जना का चमत्कार भी दर्शनीय है। 'साकेत' में 'प्रियप्रवास' की अपेक्षा कथा का प्रवाह भी कुछ विशेष दूर तक चलता है। यदि उसका क्रम 'प्रियप्रवास' में छठे सर्ग में ही समाप्त हो जाता है तो 'साकेत' में सातवें से आगे नहीं बढ़ पाता। फिर भी घटनाओं की जितनी अधिक अनेकरूपता 'साकेत' में है उतनी 'प्रियप्रवास' में नहीं। कुल मिलाकर दोनों महाकाव्यों का हिन्दी-साहित्य में अपना-अपना स्थान है।

डालने का प्रयत्न किया गया है। दोनों ही महाकाव्य आधुनिक राष्ट्रीय विचारधारा से पर्याप्त प्रभावित हुए हैं। भाषा, विषय, शैली सभी दृष्टियों से ये दोनों ही महाकाव्य एक नवीन दृष्टिकोण एवं नूतन प्रयोग को प्रस्तुत करने वाले हैं। दोनों ही का आकार-प्रकार या परिमाण भी लगभग एक-सा ही है। दोनों ही के रचयिता खड़ीबोली के प्रसिद्ध लोकप्रिय महाकवि हैं। दोनों ही महाकाव्यों में प्राचीन भारतीय संस्कृति की झलक मिलती है। लोकप्रियता और कीर्ति भी दोनों ने समान रूप से प्राप्त की है। इस प्रकार 'साकेत' व 'प्रियप्रवास' में पर्याप्त साम्य है। किन्तु वैषम्य भी इन दोनों महाकाव्यों में कुछ कम नहीं।

जैसा कि एक श्रीकृष्ण के चरित्र को लेकर चला है तो दूसरा रामचरित्र को। एक संस्कृत के वर्णवृत्तों में लिखा गया है तो दूसरा हिन्दी के मात्रिक छन्दों में। 'प्रियप्रवास' वियोग-शृङ्गार-प्रधान काव्य होते हुए जनसेवा की भावना से परिपूर्ण है। 'प्रियप्रवास' के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते कि कवि ने इसे जनसेवा की महिमा दिखाने के उद्देश्य से लिखा है या विरह-वर्णन की व्यापकता के लिए। इसके विपरीत 'साकेत' में जनसेवा की ऐसी कोई स्पष्ट प्रेरणा प्राप्त नहीं होती। उपाध्याय जी ने अपनी प्रतिभा के बल पर बालकृष्ण के चरित्र को सामयिक रूप दे दिया है। पर गुप्त जी के राम में पुराण-पुरुष श्रीराम से कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता।

इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' में आरम्भ से अंत तक विरह एवं तज्जन्य वेदना का वातावरण ही व्याप्त हो रहा है। 'प्रियप्रवास' का प्रत्येक पद एवं प्रत्येक पात्र वियोग-व्यथा से व्याकुल हो रहा है। पर 'साकेत' में यह बात नहीं। वहाँ वेदना के साथ आनन्दोल्लास भी है, करुणा के साथ वीर-दर्प भी है; वियोग के साथ संयोग भी है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'प्रियप्रवास' के नन्द, यशोदा, राधा, कृष्ण, गोप, गोपी और यहाँ तक कि प्रकृति का प्रत्येक प्राणी व पदार्थ

कहती है—

दूँ किस मुख से उन्हें उलहना ? नाथ, मुझे इतना ही कहना
हाय ! स्वार्थिनी थी मैं ऐसी, रोक तुम्हें रख लेती ?
जहाँ राज्य भी त्याज्य, वहाँ मैं जाने तुम्हें न देती ?
आश्रय होता या वह बहना ? नाथ मुझे इतना ही कहना।

इस कर्तव्यपरायणता के साथ ही नारी-सुलभ विरह-कातरता का संघर्ष दिखाकर यशोधरा की सजीवता और सरसता को कवि ने अत्यधिक चमत्कृत कर दिया है—

जलने ही को स्नेह बना, उठने ही को वाष्प बना
गिरने ही को मेह बना
जलता स्नेह जलावेगा ही, फोले वाष्प फलावेगा ही
मिट्टी मेंह गलावेगा ही, सब सहने को देह बना ॥
जलने...

इसी प्रकार—

आओ, हे वनवासी,
अब गृहभार नहीं सह सकती, देव, तुम्हारी दासी।
राहुल पल कर जैसे-तैसे, करने लगा प्रश्न कुछ वैसे
मैं अबोध उत्तर दूँ कैसे, वह तेरा विश्वासी।
उसे बताऊँ क्या, तुम आओ, मुक्ति युक्ति मुझसे सुन जाओ
जन्म मूल मातृत्व मिटाओ, मिटे मरण चौरासी ॥
आओ...

जल में शतदल तुल्य सरसते, तुम घर रहते हम न तरसते
देखो दो दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी ॥ आओ...
....

फलों के बीज फलों में (फिर) आये, मेरे दिन फिरे न हाय !
गये घन-कई कई बार फिर आये वे निर्झर झिरे न हाय !

यशोधरा

आकार-प्रकार, परिमाण और प्रसिद्धि की दृष्टि से भले ही गुप्त जी के साहित्य में 'साकेत' का स्थान उच्च है, किन्तु कवित्व की दृष्टि से तो 'यशोधरा' को ही प्रमुख पद प्राप्त होगा; ठीक उसी प्रकार जैसे कि गोस्वामी जी का 'रामचरितमानस' सबसे बड़ा और सबसे प्रसिद्ध महाकाव्य होते हुए भी कवित्व की दृष्टि से तो 'कवितावली' को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

बाह्य दृष्टि से देखने पर 'यशोधरा' एक ढिल-मिल खिचड़ी काव्य प्रतीत होता है, जिसमें गद्य, पद्य, नाटक, गीत, प्रबन्ध, चम्पू आदि विविध शैलियों का सामंजस्य होते हुए भी किसी की भी प्रमुखता नहीं। फिर भी इसे गीतात्मक प्रबन्धकाव्य ही मुख्य रूप से कहा जा सकता है।

बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण की संक्षिप्त कथा प्रबन्धात्मकता लिये हुए है। गोपा की वियोग-व्यथा गीतों में मुखरित हुई है। चतुर्थ सर्ग के पश्चात् गोपा और राहुल का संवाद गद्य-शैली में अंकित किया गया है। इस प्रकार इसे प्रयोगात्मक काव्य भी कहा जा सकता है। 'यशोधरा' 'साकेत' और 'द्वापर' के बीच की कड़ी है। इसमें दोनों के प्रमुख तत्त्वों का समन्वय-सा प्रतीत होता है। 'साकेत' की प्रबन्धात्मकता और उर्मिला की विरह-व्यथा को 'यशोधरा' में नये रूप में स्थान मिला है। उधर 'द्वापर' के समान ही 'यशोधरा' में भी सभी पात्र अपनी-अपनी स्थितियों का स्वयं विश्लेषण करते हैं। सिद्धार्थ यशोधरा, नन्द, महाप्रजावती, शुद्धोदन, छंदक और पुरजन—ये ही कुछ पात्र हैं। इनमें से यशोधरा और राहुल का चरित्र बड़े ही भव्य रूप में अंकित हुआ है। यशोधरा के रूप में कर्तव्य-निरत एक पतिव्रता आर्य-महिला का मुँह-बोलता चित्र अंकित हुआ है। उसे इस बात का दुःख नहीं कि बुद्ध साधना के लिए क्यों चले गये, दुःख तो इस बात का है कि वे उससे बिना कहे ही चले गये। वह

द्वारा इन्द्र-पूजा के विरोध एवं गोवर्धन-पूजा के प्रवर्तन में युक्तियुक्त कारण बताया गया है। कृष्ण ने इन्द्रादि देवताओं के नाम पर किये जाने वाले हिंसात्मक यागों का विरोध कर दूध-दही आदि सात्विक पदार्थों से सम्पन्न होने वाली मातृभूमि की पूजा का प्रचार किया।

बलराम यज्ञों के विरोध में अपनी वाणी को प्रखर करते हुए कहते हैं—

इष्ट एक हय-मेध-हेतु था व्यापक विजय जहाँ पर;
एक यूप से बँधे पड़े हैं सौ पशु-मेध वहाँ पर
यज्ञ-वेदियाँ हैं वे अथवा कौटिक कुटिया सारी
पुरखे यज्ञ-याग करते थे, त्याग-भाव था जिनमें;
किन्तु आज के यज्ञ देख लो, शेष रहा क्या इनमें ?
दारुण हिंसा और दम्भ ही दिखलाई पड़ते हैं;
तृष्णा बुझती नहीं, रुधिर के झरने-से झरते हैं।
अपनी प्रवृत्तियों का पोषण मिष देवी-देवों का।
अमृत नहीं, वह मृतक-पिण्ड है विष देवी-देवों का।

इसके साथ ही वे मातृभूमि की पूजा के लिए प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं—

एक एक, सौ सौ अन्यायी कंसों को ललकारो;
अपनी पुण्यभूमि के ऊपर धन जीवन सब वारो।
यही हमारा प्रमुख देवता, कभी न भूलो इसको ;
कहो दूसरा देव कौन है, आहुति दें हम जिसको
नहीं एक आकाश-निवासी, है अधिदैवतपन तो !
कंकर में भी शिवशंकर है, गिरि है गोवर्धन तो।
'व्यंजन नहीं देव देखेंगे श्रद्धा-भक्ति तुम्हारी।'
कम क्या घृत दधि दुग्ध शर्करा, देव अन्न ओदन ही
श्रुति न विरोध करे तो समझो इसका अनुमोदन ही।

आदि अनेक स्थलों में 'यशोधरा' की विरह-व्यथा मार्मिक रूप में व्यक्त हुई है। राहुल के वाल्य-जीवन को लेकर वात्सल्य-भाव की जैसी हृदयहारिणी अवतारणा इस काव्य में हुई है, उसका रसा-स्वादन करते-करते तो सूरदास का सहसा स्मरण हो आता है। वास्तव में बालक राहुल की एक-एक चेष्टा का इसमें सरल स्वाभाविक और सजीव चित्रण हुआ है—

माँ कह एक कहानी, राजा था या रानी
बेटा समझ लिया क्या तूने मुझको अपनी नानी
कहती है मुझसे यह चेटी, तू मेरी नानी की बेटी
कह माँ कह लेटी ही लेटी, राजा था या रानी।

आदि पदों में वात्सल्य-भाव साकार हो उठा है।

एकांकी-गद्य-नाटक के रूप में यशोधरा की पुत्र-विषयक चिंता का चित्रण किया गया है। किन्तु इसमें काव्यत्व के स्थान पर 'वाग्वैदग्ध्य' ही विशेष रूप से लक्षित होता है। भाव, भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से 'यशोधरा' वास्तव में हिन्दी-साहित्य का महत्त्वपूर्ण गौरव-ग्रंथ है।

गुप्त जी के काव्यों में यदि कोई ऐसा काव्य है, जिसके लिए किसी साहित्यिक को पढ़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है तो वह 'यशोधरा' ही है।

द्वापर

यह भी 'यशोधरा' के समान मुक्तक प्रबन्ध-काव्य है। श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, विधृता (यज्ञकर्ता की पत्नी), बलराम, ग्वाल, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, नंद, कुब्जा और गोपी—ये पात्र एक के बाद दूसरे क्रमशः चित्रपटो पर आ-आकर आत्मनिवेदन के रूप में अपने कार्यों और विचारों का परिचय देते हुए यथासंभव उनका समर्थन भी करते जाते हैं। इसमें कृष्ण के चरित्र को एक सर्वथा नवीन और मौलिक रूप में अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। कृष्ण के

तो कहा गया है कि लगभग आधी शताब्दी तक जिस कलाकार-कोकिल का कण्ठ-स्वर निराशाजन्य कष्टों से कुण्ठित नहीं हुआ, जिसने अपनी भक्ति-भावनाओं को दूसरे पर बलात् न लादते हुए उसके सुधा-रस से सिंचित कर जनता में अनुपम संजीवनी शक्ति का संचार कर दिया, जिसने वैयक्तिक व्यथा और निराशा के स्वरों को संकुचित कर आशा-पूर्ण सुनहले भविष्य का दिव्य संदेश सुनाया, वह क्या इसीलिए महनीय नहीं है ? केवल साहित्य या केवल कला के नाम पर यदि उसने कुछ नहीं लिखा तो केवल कला के लिए तो प्रेमचन्द ने भी कुछ नहीं लिखा। महान् लेखक शब्दों, छन्दों और मूर्तामूर्त चित्रों का खिलवाड़ नहीं करते। वे समाज को विलासिता की मादकता में न सुला कर जीवनवाहिनी शक्ति से अनुप्राणित करते हैं। वे जन-सामान्य की मान्यताओं को परिष्कृत कर, जन-मन को भव्य भावनाओं से भूषित कर देते हैं। उनकी रचनाओं में साहित्य कम है या अधिक, इसकी चिन्ता उन्हें कभी नहीं सताती।

इस प्रकार गुप्त जी ने गोवर्धन-पूजा के प्रचलन के वास्तविक स्वरूप और कारण को बड़े सशक्त शब्दों में व्यक्त किया है। इस काव्य में वे रूढ़ि-परम्पराओं के घोर विरोधी और क्रान्तिकारी के रूप में प्रकट हुए हैं। बलराम के ही कुछ और विचार देखिए—

न्याय-धर्म के लिए लड़ो तुम ऋत-हित समझो बूझो,
अनय राज, निर्दय समाज से निर्भय होकर जूझो।
राजा स्वयं नियोज्य तुम्हारा यदि तुम अटल प्रजा हो,
धात्री नहीं किन्तु बलदात्री बस अन्यथा अजा हो॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वापर में वर्तमान युग की क्रान्तिकारिणी सुधारवादी प्रवृत्ति को सजग रूप में अभिव्यक्ति मिली है। बौद्धिकता के आधिक्य के कारण भाव-प्रवणता का स्पर्श इसमें उतना नहीं है, पर यह बात तो 'यशोधरा', पंचवटी' व 'साकेत' के कुछ एक स्थलों को छोड़ कर गुप्त जी की अधिकांश रचनाओं में दिखाई देती है। युग की भावनाओं के अनुरूप साहित्य-निर्माण की इस प्रवृत्ति को देखकर ही अनेक आलोचकों ने गुप्त जी की कटु आलोचना करते हुए उन्हें विभिन्न संस्कृतियों का सम्मेलनकर्ता, कम्पोज़ीटर या आढ़ती अथवा आयास-कवि तक कह डाला है; पर हमें तो उनके भावुक रूप की अपेक्षा लोकसंग्रही रूप को ही मुख्यतः देखना है। उनके काव्यों में सुन्दर की अपेक्षा सत्य और शिव का स्वर ही अधिक उच्चता के साथ मुखरित हुआ है। उनकी रचनाओं में हम जहाँ एक ओर बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण राग-विराग तथा सामाजिक व राजनैतिक संघर्षों की प्रतिच्छाया देखते हैं, वहाँ वैदिक युग से लेकर आज तक की भारतीय संस्कृति को भी सप्राण रूप में मुखरित पाते हैं।

पद्य-साहित्य में खड़ीबोली के प्रवर्त्तन में गुप्त जी का सर्वाधिक योग रहा है। राष्ट्र की भावनाओं को राष्ट्रभाषा में अनुप्रमाणित करने का सर्वाधिक श्रेय राष्ट्र के इस महामान्य कलाकार को ही प्राप्त है। इसीलिए

हिन्दी में छायावाद के आप प्रवर्त्तक माने जाते हैं। प्रसाद जी ने नवीन शैली तथा नये विचारों द्वारा हिन्दी-साहित्य के भंडार को अपूर्णता के दोष से ही नहीं बचाया प्रत्युत शत-शत कवियों को अपने मार्ग पर चलाकर, अपना अनुयायी बनाकर सर्वदा के लिए उसे अक्षय बना दिया। मौलिक नाटक-लेखकों में भी आप ही हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार और पथप्रदर्शक माने जाते हैं। प्राचीन युग की गवेषणा विशेषकर बौद्ध-युग के इतिहास के अनुसंधान के कार्य से तो आपका स्थान हिन्दी-साहित्य में बहुत मान्य है।

इसके अतिरिक्त आपके उपन्यास, आख्यायिकाएँ भी अत्युत्कृष्ट हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। आपने वर्तमान साहित्य के प्रचलित विषयों तथा शैलियों पर तो लिखा ही है, साथ ही नई-नई शैलियों में नये-नये विषयों पर भी बहुत-कुछ लिखा है। सर्वतोमुखी प्रतिभा की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में प्रसाद जी का स्थान गोस्वामी तुलसीदास तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समकक्ष है। आपकी वेश-भूषा, खान-पान सर्वथा साधारण ही था।

प्रसाद जी ने भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और छायावाद-युग—इन तीनों में रचनाएँ लिखी थीं। इस प्रकार प्रसाद जी की रचनाओं को काल-क्रम की दृष्टि से (१) पूर्वकाल, (२) मध्यकाल, (३) नवीन काल—इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

'विशाख', 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'झरना', 'प्रतिध्वनि', 'छाया', 'प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व' और 'चित्राधार' उनकी पूर्वकाल की रचनाएँ हैं। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'कामना', 'आकाशदीप', 'कंकाल', 'एकघूँट' उनकी मध्यकालीन रचनाएँ हैं। 'आँधी', 'तितली', ध्रुव'व-स्वामिनी', 'इन्द्रजाल', 'लहर', 'कामायनी', 'काव्य और कला' तथा अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' नवीन काल की रचनाएँ हैं।

जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म सं० १९४६ कैलाशवास सं० १९९३

प्रसाद जी का जन्म सं० १९४६ में काशी के एक ऐश्वर्यशाली, महादानी वैश्य-वंश में हुआ था। आपके पितामह शिवरत्न साहू जी बनारस के परोपकारी दानियों में श्रेष्ठ गिने जाते थे। प्रसाद जी के पिता का नाम श्री देवीप्रसाद जी था। प्रसाद जी बारह वर्ष के ही थे कि उनके पिता स्वर्ग सिधार गये। उस समय प्रसाद जी सातवीं श्रेणी में पढ़ रहे थे। पिता की असामयिक मृत्यु के कारण आपका विद्यालय जाना बन्द हो गया और आपको परिवार का सारा भार सँभालना पड़ा। आपने स्कूल छोड़कर घर पर ही पढ़ने का प्रबन्ध कर लिया। आप कुछ समय तक संस्कृत का अध्ययन करते रहे।

उन्नीस वर्ष की आयु में ही आपकी गम्भीर, ऐतिहासिक गवेषणाओं तथा छायावादी रचनाओं में प्रवृत्ति दिखाई दी। क्रमशः आपने हिन्दी-साहित्य की ठोस सेवाएँ कीं। आपने कई भिन्न रूपों में हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। उनमें सर्वप्रथम तो आपने हिन्दी-साहित्य के काव्य-क्षेत्र को परिष्कृत कर सुरुचि की ओर प्रवृत्त किया और वास्तविक सत्य-मार्ग पर चलाया। प्राचीन काव्यकार या तो शृङ्गार से सर्वथा अछूते रहा करते थे या ऐसे शृङ्गार में मग्न रहते थे कि नाम लेते ही घृणा उत्पन्न हो जाय। वास्तव में ये दोनों ही मार्ग असमीचीन हैं। किन्तु प्रसाद जी ने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर सात्त्विक प्रेम का परिचय कराते हुए कर्त्तव्य-पालन का उपदेश दिया।

साथ प्रसाद जी की भावनाएँ एक अलौकिक मूर्त्त-रूप ग्रहण कर लेती हैं।

(७) रहस्यवाद और छायावाद—प्रसाद जी प्रकृति-प्रेम, अज्ञात के प्रति जिज्ञासा, अद्वैत दर्शनों के अभ्यास और गीताञ्जलि से प्रेरित होकर हिन्दी-साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद नामक शैली के प्रवर्त्तक हुए।

(८) प्रेम-साधना—प्रेम और वासना को अपने पृथक्-पृथक् स्पष्ट रूप में चित्रित करने वाले प्रसाद जी प्रथम कवि हैं। उनका लौकिक प्रेम भी अलौकिक का संकेत-सा करता रहता है।

(९) विषयानुसारिणी भाषा—प्रसाद जी आरम्भ से अन्त तक सभी विषयों और भावनाओं को एक ही भाषा की लाठी से न हाँक कर पात्रों और परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्त्तन करते रहते थे। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि मध्यकालीन नाटकों को संस्कृतनिष्ठ भाषा में ही लिखा जाना उचित है। 'कामायनी', 'आँसू' आदि की भाषा सरल साहित्यिक है। उनकी लाक्षणिकता और मूर्त्तिमत्ता भी पग-पग पर प्रकट हो रही है। 'कंकाल', 'तितली' आदि उपन्यास सर्व-साधारण की भाषा में लिखे गये हैं।

अब यहाँ सर्वप्रथम उनके सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'कामायनी' पर कुछ विचार प्रकट किये जाते हैं—

कामायनी

'कामायनी' की कथा—यह ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर सृष्टि के प्रथम ऐतिहासिक पुरुष मनु से आरम्भ होती है। खण्ड-प्रलय के पश्चात् अकेले बच निकले मनु चिन्ताग्रस्त बैठे हैं। उन्हें अपने जीवन से भी घृणा-सी हो गई है। इतने में श्रद्धा नामिका गंधर्वराज-कन्या आ मिलती है। काम-गोत्रजा होने के कारण उसे 'कामायनी' भी कहा जाता है। वे दोनों क्रमशः प्रेम और परिचय के बढ़ने पर पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं। किन्तु श्रद्धा के गर्भवती हो जाने पर मनु उसके प्रति कुछ उपेक्षा-सी प्रकट करते हैं। एक दिन शिकार से

प्रसाद जी के काव्य में निम्नस्थ नौ विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं—

(१) काव्य-विषय में नवीनता—प्रसाद जी ने भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की उपदेशात्मकता और इतिवृत्तात्मकता को दूर कर काव्य के विषयों में नवीनता और आधुनिकता का प्रसार किया। साहित्य में नवीन विषयों की अवतारणा का बहुत-कुछ श्रेय प्रसाद जी को ही है।

(२) भाव-जगत् का संस्कार—जैसा कि ऊपर कहा गया है प्रसाद जी ने सस्ती और विकृत भावुकता या उसके सर्वथा बहिष्कार-दोनों का तिरस्कार कर हिन्दी-साहित्य को स्वस्थ और संस्कृत मानसिक पृष्ठभूमि पर स्थापित किया, वासनात्मक शृङ्गार का विरोध कर निर्मल प्रेम का प्रवाह बहाया।

(३) नवीन कल्पनाओं की सृष्टि—नवीन भाषा के साथ काव्य को नवीन कल्पनाएँ भी प्रसाद जी की प्रेरणा से प्राप्त हुईं।

(४) मानवीय सौन्दर्य का चित्रण—प्रसाद जी आरम्भ में आन्तरिक सौंदर्य को ही प्रमुख रूप से चित्रित करते रहे। 'कामायनी' में उन्होंने वाह्य सौंदर्य का भी अपने ढँग से अद्‌भुत किन्तु सर्वथा स्वाभाविक चित्रण किया है।

(५) प्राकृतिक सौन्दर्य—प्रकृति के सच्चे प्रेम के वे प्रथम परिचायक और प्रेरक हैं। प्रकृति के नाना रूपों के जैसे चित्रण उनके काव्य में अंकित हुए हैं, वैसे अन्यत्र कहीं नहीं हो पाये। कोमल-से-कोमल तथा भयङ्कर-से-भयङ्कर दोनों प्रकार की प्रकृति का चित्र उनके काव्य में अङ्कित हुआ है। 'कामायनी' में भीषण प्रलयकालीन प्रकृति का वर्णन पढ़ते-पढ़ते पाठक स्वयं प्रलयंकर सागर की उत्ताल तरङ्गों में बहने लगता है।

(६) भाव-सौन्दर्य की स्थापना—प्रसाद को यौवन और प्रेम का भी कवि कहा जाता है। प्रेम, भक्ति या पौराणिक आख्यानों को लेकर लिखी गई उनकी आरम्भिक रचनाएँ विषय-प्रधान ही हैं। 'आँसू', 'झरना', 'लहर' तथा 'कामायनी' भावप्रधान रचनाएँ हैं। प्रकृति के

से परिपूर्ण दानवी सभ्यता—इन दोनों पर स्नेह, सद्भाव सहानुभूति तथा सुख-शान्ति से समन्वित मानवीय सभ्यता को प्रतिष्ठित करना ही 'कामायनी' के कलाकार का एकमात्र लक्ष्य है। मनु के रूप में समग्र मानव जीवन का और साथ-ही-साथ सम्पूर्ण मानव जाति के इतिहास का प्रत्यक्ष चित्र अंकित कर दिया गया है। श्रद्धा के रूप में आदर्श भारतीय नारी और इड़ा के रूप में आधुनिक वैज्ञानिक युग की नारी चित्रित हुई है।

दया माया ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास।

इस एक ही पद में श्रद्धा का सम्पूर्ण चित्र चित्रित हो गया है। श्रद्धा ही नहीं, अपितु प्रत्येक भारतीय नारी दया, माया, ममता, माधुर्य और अगाध विश्वास की साकार प्रतिमा है। वह मनुष्य को ऐहिक सुख देने वाली ही नहीं, प्रत्युत परम-तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली भी है। कबीर आदि सभी सन्त-कवियों ने—

नारी की झांई पड़े अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कहा गति, (जो) नित नारी के संग॥

आदि कह कर स्त्री को साधना के मार्ग में बाधक ही माना है। कुछ दूसरे कलाकारों ने उसे मनुष्य की वासना को तृप्त करने वाली 'कामायनी' के रूप में देखा है। तुलसी आदि भक्त कवि उसे मातृत्व की महिमा से मंडित कर सन्तुष्ट हो गये हैं। प्रसाद जी पहले कवि हैं जिन्होंने नारी को साधना-मार्ग में भी सहायक ही माना है, बाधक नहीं। उन्होंने यहाँ तक कहा कि नारी की सात्त्विक प्रवृत्तियों के बिना मानव आत्मरूप को प्राप्त ही नहीं कर सकता। साथ ही प्रसाद जी की श्रद्धा केवल श्रद्धा न होकर 'कामायनी' भी है। तुलसी की सीता अत्यन्त श्रद्धा की पात्र होने के कारण अमानवीय हो गई है। साधारण ललना के लिए उसका अनुकरण करना असाधारण बात है। अन्य कवियों की नायिकाएँ कामायनी या कामिनी ही बनकर रह गईं। वे

लौटने पर मनु को श्रद्धा ने स्वाभाविक रूप से ही कह दिया कि "तुम दिन-भर न जाने कहाँ भटका करते हो, मैं अकेली सूनी कुटिया में उदास बैठी रहती हूँ; पर अब मैं अकेली न रहूँगी।" यह सुनते ही मनु क्रोध-विह्वल हो, "अब तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं है। मेरे भाग्य में तो अकेले रहना लिखा है" आदि कहते हुए श्रद्धा को अकेला छोड़कर चले गये। सारस्वत-प्रदेश की रानी इड़ा ने उन्हें अपने राज्य के प्रबन्धक के रूप में अपना लिया। जब उन्होंने इड़ा पर भी अधिकार जमाने का प्रयत्न किया तो प्रजा में विद्रोह हो उठा। संघर्ष में मनु घायल होकर गिर पड़े। श्रद्धा, यह सब घटना स्वप्न में देख कर अपने द्वादश-वर्षीय पुत्र को साथ ले उनकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ी। घायल और मूर्च्छित मनु का उसने उपचार किया; किन्तु स्वस्थ और जागृत मनु लज्जा के कारण श्रद्धा को वहीं छोड़ भाग निकले। श्रद्धा अपने पुत्र 'मानव' को इड़ा को सौंप कर मनु को खोजने निकली और हिमालय में उनसे जा मिली। उसने मनु की सात्त्विक वृत्तियों को जागृत कर शिवरूप का दर्शन कराया और बताया कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीनों के समन्वय के बिना आत्मा का साक्षात्कार या मानव का कल्याण नहीं हो सकता। अब मनु और श्रद्धा एक पहुँचे हुए महा-पुरुष के रूप में सर्वत्र विख्यात हो गये हैं। उनके दर्शनार्थ पहुँचने वाले सैकड़ों यात्रियों में इड़ा और मानव भी उनके पास पहुँच जाते हैं। मनु मानव को दिव्य संदेश देते हैं। 'कामायनी' की यह संक्षिप्त कथा है।

कथानक की दृष्टि से तो 'कामायनी' एक साधारण काव्य प्रतीत होता है, परन्तु इसके बहिरंग की अपेक्षा अंतरंग ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। कथानक तो प्रसाद जी के विचारों को मूर्त रूप देने के लिए स्वल्प-सा सहारा मात्र है। इस काव्य के द्वारा कवि ने युग को मानवता का दिव्य सन्देश दिया है। सुख, विलास, ऐश्वर्य, स्वाभिमान और अप्सराओं की रँगरेलियों से परिपूर्ण दैवी सभ्यता तथा मारकाट, संघर्ष और हिंसा

कर दिया गया है। प्रकृति-वर्णन भी परम रमणीय हुए हैं। प्रत्येक सर्ग में अनेक प्रकार के मात्रिक छन्दों का व्यवहार भी इसकी महाकाव्यता का समर्थक है। इसका कथानक भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक आधार पर अवस्थित है। 'कामायनी' में महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण स्पष्ट लक्षित हो जाते हैं। युद्ध, विद्रोह, प्रलय आदि के दृश्य भी इसमें सजीव बन पड़े हैं। इसमें शृङ्गार रस प्रधान तथा करुण, शान्त आदि अंग रूप में आये हुए हैं। इस काव्य में जिस प्रकार मनु का समकालीन समाज प्रतिबिम्बित हो रहा है, उसी प्रकार आधुनिक समाज भी प्रतिफलित हो रहा है। इस काव्य के द्वारा विश्व में मानवता के संचार का एक दिव्य संदेश भी प्राप्त होता है। इस प्रकार महाकाव्य का सम्पूर्ण लक्षण 'कामायनी' में घट जाने पर भी इसे एक श्रेष्ठ और सफल महाकाव्य स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि 'कामायनी' का कथानक महाकाव्य के अनुरूप विशाल, विविध गतिमय नहीं है। इसकी कथा बड़ी ढीली-ढाली-सी है। बहुत-से सर्ग तो ऐसे हैं जिनमें कथा का कहीं चिह्न भी नहीं है। कथानक की अपेक्षा भावनाएँ प्रमुख रूप से प्रतिष्ठित हो रही हैं। कथानक के प्रत्येक अंग की सम्बद्ध योजना भी शिथिल-सी है। उसका विकास भी यथोचित रूप से नहीं हो पाया। दार्शनिक और छायावादी कविताओं के कारण काव्य में प्रवाह और सरसता की अपेक्षा गुरुगम्भीरता अधिक आ गई है। 'कामायनी' के पात्र भी इने-गिने हैं। अतः पात्रों की विविधता और उनके जीवन की अनेकरूपता की दृष्टि से भी 'कामायनी' इतना सफल महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। अतः 'कामायनी' को छायावाद और रहस्यवादात्मक एक उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य तो कहा जा सकता है पर महाकाव्य नहीं।

इस विषय पर विचार करते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि यह छायावाद और रहस्यवाद की प्रतीक-शैली

अपना और मानव का कल्याण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। प्रसाद जी की कामायनी नारी के सम्पूर्ण सौन्दर्य और आकर्षण से परिपूर्ण सुख-दुःख, राग-विराग तथा मानवोचित निर्बलताओं से समन्वित समाज की साधारण स्त्री होते हुए भी श्रद्धात्मिका है। हम केवल उसके चरणों का ही ध्यान न कर उसके अंग-प्रत्यंग से फूट रही यौवन की मधुर मादकता और तज्जन्य चेष्टाओं का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हुए भी मनु के शब्दों में—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥

महामहिमामयी श्रद्धा के रूप में उसे अपने हृदय की देवी बनाते हैं। उन्होंने आज की वैज्ञानिक युग की नारी को इड़ा के रूप में अंकित किया है। और मनु तो नित्य नवीन के प्रति आकृष्ट रहने वाले मानव का प्रतिनिधि ही है—

हो अब तुम बनने को स्वतन्त्र।
सब कलुष ढाल कर औरों पर रखते हो अपना अलग तन्त्र,
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मन्त्र।
डाली में कंटक-संग कुसुम खिलते मिलते भी हैं नवीन,
अपनी रुचि से तुम बिंधे हुए जिसको चाहो ले रहे बीन।
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया,
हाँ जलन-वासना को जीवन-भ्रम-तम में पहला स्थान दिया।
अब विकल प्रवर्तन हो ऐसा जो नियति-चक्र का बनें यंत्र॥

'कामायनी' का महाकाव्यत्व—

यूँ तो 'कामायनी' में महाकाव्य का साहित्यदर्पणोक्त लक्षण प्रायः पूरा-पूरा घटित होता है। जैसे कि इसका कथानक प्रसिद्ध ऐतिहासिक, महापुरुष मनु दिव्यादिव्य है। इसमें सर्ग या अध्याय नहीं, पर शीर्षकों के आधार पर ग्रन्थ का अनेक प्रकरणों में विभाजन अवश्य

स्वतः सुपरिचित है। इसके साथ ही मानस अनुपम सौन्दर्य से भी समन्वित है, किन्तु 'कामायनी' के सम्बन्ध में उक्त तथ्य चरितार्थ नहीं होते। 'कामायनी' की कथा, भाषा, विषय, शैली आदि सभी सामान्य पाठक के लिए सर्वथा अपरिचित और अद्भुत हैं। निरक्षर तो क्या, अच्छे पढ़े-लिखे पाठक भी एक विशेष साहित्यिक प्रतिभा के अभाव में 'कामायनी' का रसास्वादन नहीं कर सकते। फलतः 'कामायनी' का प्रचार घर-घर में न तो कभी हुआ है, न हो ही सकता है। इन्हीं सब बातों को देखते हुए हम कहते हैं कि 'कामायनी' को आधुनिक युग का या खड़ीबोली का 'रामचरितमानस' कहना सर्वांशतः उचित नहीं है।

इसके साथ ही कुछ आलोचकों ने 'कामायनी' को महाकाव्य और प्रवन्धकाव्य तो क्या, एक उत्कृष्ट काव्य भी न कह कर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का संकलन-मात्र कह डाला है, यह भी उचित नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'कामायनी' में मानव जीवन की मार्मिक ढंग से मनोवैज्ञानिक व्याख्या हुई है। मानव जीवन के घात-प्रतिघात और संघर्षों का उसमें सुन्दर चित्रण है। मनु को मन का प्रतिनिधि कहा जाता है। मन जिस प्रकार नित्य नवीन के पीछे पड़ा रहता है वही दशा मनु की भी है। इसी प्रकार भयंकर चिन्ता और संकट में पड़कर भी मनु के हृदय में धीरे-धीरे चिन्ता का लोप और आशा का संचार होता है। क्रमशः श्रद्धा की ओर उसका आकर्षण बढ़ता है और अपने हाथ में आई हुई प्रत्येक वस्तु पर अपना ऐसा दृढ़ और कठोर अधिकार जमाये रखना चाहता है कि श्रद्धा को पशु से भी प्यार करते हुए वह देख नहीं सकता। और इसी प्रकार के स्वाभिमान से—नित्य नवीन की प्राप्ति की प्रकृति से प्रेरित होकर—वह श्रद्धा को छोड़ देता है। —आदि अनेक प्रकार के मनोवैज्ञानिक रूप अत्यन्त सजीव रूप में अंकित हुए हैं। फिर भी यह नहीं कह सकते कि 'कामायनी' एक मनोवैज्ञानिक तथ्यों का संकलन-मात्र ही है। इसमें रहस्यवाद

पर अभिव्यञ्जनात्मक पद्धति पर लिखा हुआ काव्य है और यह विश्व-साहित्य में अपने ढंग की एक ही रचना है। प्रसाद जी ने एक सर्वथा नवीन प्रयोग किया है। उनका उद्देश्य भी एक सबल महाकाव्य लिखना नहीं प्रत्युत छायावाद और रहस्यवाद के क्षेत्र में एक उत्कृष्ट प्रबन्धकाव्य प्रस्तुत करना था। इस दृष्टि से प्रसाद जी 'कामायनी' में आशा से अधिक सफल हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं। 'कामायनी' अपने ढंग की विश्व-साहित्य में एक अनुपम रचना है। महाकाव्य होने या न होने से उसकी महत्ता में कुछ न्यूनाधिकता नहीं आती। वह महाकाव्य न होकर भी बड़े-से-बड़े महाकाव्य के समान ही महत्त्वपूर्ण है।

कुछ आलोचक 'कामायनी' को आधुनिक युग का 'रामचरित-मानस' कहते हैं, यह कथन भी आंशिक रूप में ही सत्य है। मानस के समान ही 'कामायनी' में भी एक पूर्ण मानवता का सन्देश मिलता है, कामायनीकार भी मानसकार की भाँति समाज को श्रद्धान्वित बनाना चाहता है। ज्ञान, विज्ञान, कर्म और श्रद्धा आदि का समन्वय भी दोनों काव्यों में समान रूप से पाया जाता है। इस समन्वयवाद के दोनों ही कलाकार समान रूप से उपासक हैं। दोनों ने ही अपने कथानकों के लिए सूर्यवंश के दो अत्यन्त प्रसिद्ध पुरुषों को नायक के रूप में अपनाया है। इस प्रकार 'कामायनी' का 'रामचरितमानस' के समान ही विश्व के निर्माण और कल्याण में तथा मानव-समाज के लिए पथ-प्रदर्शन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसमें तो कुछ सन्देह नहीं; पर हिन्दी-साहित्य के इन दोनों बहुमूल्य रत्नों की निजी विशेषताएँ भी अत्यन्त स्पष्ट अथवा महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे कि मानस एक भक्ति-प्रधान महाकाव्य है। उसकी भाषा एवं शैली सभी कुछ सरल, प्रचलित और लोकप्रिय है। उसके कथानक से भी आबाल-वृद्ध, साक्षर-निरक्षर, यहाँ तक कि भारत का प्रत्येक बच्चा-बच्चा भली भाँति

चित्राधार—इसमें प्रसाद जी की आरम्भिक रचनाएँ संकलित हैं, जिसमें गद्य, पद्य और नाटक तीनों का समावेश कर दिया है। 'उर्वशी', 'अयोध्या का उद्धार', 'वन-मिलन' आदि इतिवृत्तात्मक कविताएँ इसके प्रथम खण्ड में दी हुई हैं। द्वितीय खण्ड में के संस्कृत-शैली के 'सज्जन' नामक एकाङ्की नाटक में मनोरञ्जकता का पर्याप्त पुट है और 'प्रायश्चित्त' में देश-भक्ति के भाव लक्षित होते हैं। तृतीय खण्ड में 'ब्रह्मर्षि' और 'पञ्चायत' ये दोनों पौराणिक कथाएँ तथा प्रकृति-सौन्दर्य, सरोज एवं भक्ति पर निबन्ध हैं। 'पराग' नामक चतुर्थ खण्ड में प्रकृति-सम्बन्धी सुन्दर सरस कविताएँ दी गई हैं। अन्तिम पंचम खण्ड में 'मकरन्द-बिन्दु' शीर्षक कविता और पदों का संग्रह है। इसमें प्रसाद जी की किशोरावस्था की विकासोन्मुखी प्रतिभा का स्पष्ट परिचय मिलता है।

कानन-कुसुम—इसमें संवत् १९७६ से पूर्व की रचनाएँ संकलित हैं। रंगीन और सादे, सुगन्ध वाले और निर्गन्ध, मकरन्द से भरे और पराग से लिपटे, सभी प्रकार के कुसुम इसमें सजा दिये गये हैं। प्रेम और प्रकृति-सम्बन्धी कवि के आन्तरिक उद्गारों की अभिव्यक्ति इसमें मार्मिकता से हुई है।

प्रियतम वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए?
प्रेम - कंज किंजल्क शुष्क कैसे हुए?
हम! तुम! इतना अन्तर क्यों कैसे हुआ?
हा हा प्राण अधार शत्रु कैसे हुआ?
....

जितना चाहो शांत बनो गंभीर हो।
खुल न पड़ो तब जानेंगे तुम धीर हो॥
रूखे ही तुम रहो, बूंद रस के भरें।
हम तुम जब हैं एक, लोग बकते फिरें॥

आदि पदों में कवि के प्रणयोद्गार भी बड़ी दृढ़ता व निर्भीकता से

और छायावाद-सम्बन्धी एक उत्कृष्ट काव्य के सभी गुण पूर्ण रूप में पाये जाते हैं। अतः इसे उत्कृष्ट काव्य ही माना जायगा न कि मनोवैज्ञानिक तथ्यों का एक संकलन-मात्र।

'कामायनी' की कथा कविकल्पित न होकर ऐतिहासिक है। इसके कथानक के मूलतत्त्व शतपथ-ब्राह्मण, उपनिषद् एवं भागवत में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। किन्तु इन ग्रन्थों में ये मूलतत्त्व बीज-रूप में ही उपलब्ध होते हैं। प्रसाद जी की विधायिनी प्रतिभा ने इन्हें अंकुरित व पल्लवित कर दिया है। उक्त ग्रन्थों में 'कामायनी' के पात्रों का संक्षिप्त-सा उल्लेख-मात्र मिलता है। हमारे कवि ने न केवल उसे एक सम्बन्ध-सूत्र में ग्रंथित कर दिया है प्रत्युत मूर्त्त रूप में भी प्रस्तुत कर दिया है। इसका उल्लेख प्रसाद जी ने स्वयं 'कामायनी' की भूमिका में किया है। इस प्रकार हम 'कामायनी' के ऐतिहासिक आधार का निश्चय कर लेते हैं। 'कामायनी' की कथा केवल एक रूपक ही नहीं प्रत्युत इतिहास भी है। इसमें इतिहास का ऐसा सुन्दर रूप अंकित हुआ है कि काव्य में स्वतः एक साङ्ग रूपक की झलक पड़ने लगती है।

इसके अतिरिक्त दार्शनिक विवेचन भी 'कामायनी' में कुछ कम नहीं है। बात तो यह है कि 'कामायनी' काव्य छायावाद और रहस्यवाद से परिपूर्ण है, और रहस्यवाद अद्वैतवाद का ही साहित्यिक रूप है। अद्वैतवाद स्वयं वेदान्त दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। शैवदर्शन अथवा शैव-आनन्दवाद से प्रसाद जी पूर्णरूपेण प्रभावित थे। 'कामायनी' में भी यत्र-तत्र इसी शैव-आनन्दवाद की झलक है। श्रद्धा मनु को भगवान् शिव का ही दर्शन कराती है। वह नर्तित नटेश का साक्षात्कार कर दिव्य आनन्द को प्राप्त कर लेता है, वहाँ मनु को भगवान् शिव के डमरू का अनाहत नाद भी सुनाई देता है। इस प्रकार स्पष्ट सिद्ध है कि प्रसाद जी शैव-आनन्दवाद को 'कामायनी' में प्रकट करना चाहते थे।

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती-सी तुम कौन?

आँसू—छायावाद की चर्चा 'आँसू' के प्रकाशन से पूर्व ही होने लगी थी। पर यह चर्चा केवल ऐतिहासिक महत्त्व रखती थी। ज्यों ही 'आँसू' की सृष्टि हुई, प्रसाद इतिहास-गणना के आदिपुरुष ही नहीं रहे, युग की काव्य-प्रवृत्ति की ठीक-ठीक व्यंजना करने वाले प्रतिनिधि कवि के रूप में भी स्वीकृत हुए, इसीलिए 'आँसू' का प्रकाशन छायावाद-युग की ऐतिहासिक घटना माना जाता है। छायावाद की व्याख्या और उसकी प्रवृत्तियों को समझने के लिए किसी साहित्य-शास्त्र के आचार्य का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं, 'आँसू' का अध्ययन ही पर्याप्त है। इसी लिए कहा गया है कि यदि 'आँसू' का प्रादुर्भाव न होता तो छाया-वाद की भूमि सचमुच अनिर्दिष्ट रह जाती, और ऐसी अन्तर्भावनाओं की —जो यौवन को झकझोरा करती हैं—अभिव्यक्ति साकार न हो पाती।

'आँसू' को किसी ने लौकिक विरहगीत, तो किसी ने आध्यात्मिक काव्य माना है। किसी ने उसमें सृष्टि के विकास का इतिहास भी देख लिया है। पर स्मरण रखना चाहिए कि 'आँसू' वास्तव में मानवीय प्रणय-काव्य ही है।

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, इस ज्वालामयी जलन के।
कुछ शेष चिह्न हैं केवल, मेरे उस महामिलन के॥

यहाँ पर 'महामिलन' अलौकिक घटना का प्रतीक नहीं, कवि की लौकिक अनुभूति का ही अलौकिक संकेत है। प्रियतम के साथ क्षणिक मिलन भी महामिलन ही है।

झंझा - झकोर गर्जन था, बिजली थी, नीरद - माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला॥

यहाँ पर भी 'झंझा-झकोर' आदि में सृष्टि पर होने वाले प्रलय की ओर संकेत न होकर झंझा से हृदय में उठने वाले हृदय के तूफ़ान,

प्रकट हुए हैं।

करुणालय—यह एक अतुकान्त मात्रिक छन्द में लिखा हुआ हिन्दी का पहला भाव-नाट्य है। यहाँ पर कवि की भाषा का सर्वप्रथम प्रौढ़ परिमार्जित रूप प्रकट हुआ है।

महाराणा का महत्त्व—महाराणा प्रताप के जीवन से सम्बद्ध यह भी अतुकान्त छन्द में लिखी हुई इतिवृत्तात्मक रचना है। भाषा और भावों की प्रवाहात्मकता दर्शनीय है।

प्रेम-पथिक—इसकी रचना पहले व्रज-भाषा में हुई थी; फिर इसे खड़ीबोली में रूपान्तरित कर दिया गया। इसमें दो प्रेमी हृदयों का मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किया गया है। दो पड़ोसी मित्रों के पुत्र-पुत्री प्रणय-पाश में बँध जाते हैं। लड़की का दूसरे व्यक्ति से विवाह हो जाने पर युवक तपस्वी बन कर एक कुटी में प्रविष्ट होता है, वहीं पर तापस-वेश-धारिणी उसकी प्रेमिका से भेंट होती है। इस प्रकार इसमें प्रेम को पावनतम रूप में प्रकट किया गया है और कहा गया है कि—

प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

झरना—यह छायावाद की सर्वप्रथम रचना है। इसमें युवावस्था में प्रकट होने वाली वासना के साथ संयम के अन्तर्द्वन्द्व का चित्र प्रभावपूर्ण है। कवि कहता है—

करता हूँ जब कभी प्रार्थना कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की हो जाती झंकार।

इसकी 'किरण' शीर्षक कविता का हिन्दी-साहित्य में अत्युच्च स्थान है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग।'

हैं। इसी भाव को कवि ने कितने कलात्मक रूप में व्यक्त किया है—

विष-प्याली जो पी ली थी वह मदिरा बनी नयन में।
सौन्दर्य पलक-प्याले का अब प्रेम बना जीवन में॥

इस प्रकार सिद्ध होता है कि कवि ने अपने जीवन के चढ़ते दिनों में हाड़-मांस की सजीव प्रतिमा से प्रेम किया था, उसी के वियोग की व्यथा में उसके हृदय का करुण क्रन्दन 'आँसू' के रूप में वह निकला है।

फिर भी यह तो कहना ही होगा कि प्रसाद जी ने अपने भौतिक आलम्बन के प्रति निवेदन को इतनी सघनता समर्पित की है कि वह अलौकिक हो गया हैं। पर भावों की इस एकान्त सघनता का अन्त तक क्रमिक विकास नहीं हो पाया। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि हृदय ही में अपनी प्रणय-प्रतिमा को अश्रुदान देते-देते थक-सा गया है और वह बाहर झाँकने लगा है। मुक्तक के रूप से निकाल कर प्रबन्ध तक ले जाने की भावना के कारण कई पंक्तियों में भाव-साम्य आ गया है। आत्मगत काव्य की सीमा लांघ कर 'आँसू' में युग की वेदना भी इसीलिए चित्रित हुई हैं। 'आँसू' का मुख्य भाव विप्रलम्भशृंगार करुणा के सिंचन से निखर कर लोक-कल्याण की शान्त कल्पना से पावनतम हो उठा है। कवि कहता है—

निर्भय जगती को तेरा, मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला।

आँसू में लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता के कारण कहीं-कहीं अर्थावबोध में उलझन हो जाती है। लिङ्ग-विपर्यय के कारण भी ऐसा होता है; जैसे कि—

शशि-मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाए,
—जीवन की गोधूलि में तुम कौतूहल से आए।

चित्र शशिमुखी का है पर क्रिया पुरुषवाचक है। इसीलिए साधारण हिन्दी-पाठक लौकिक प्रियतमा को स्पष्ट देखते हुए भी

विजली से विरह-व्यथा की कसक और नीरद-माला से उदासी की ओर संकेत है, जिन्होंने विरह-व्यथित कवि के अन्ततम को चारों ओर से घेर लिया है। यह 'आँसू' शुद्ध रहस्यवादी काव्य न होकर भौतिक प्रणय-काव्य है। इसमें स्थूल सौन्दर्य का आकर्षण प्रबल है। जैसे—

इस हृदय-कमल का घिरना, अलि-अलकों की उलझन में।

कवि स्पष्ट कहता है कि उसका हृदय काली अलकों में उलझ गया है। काली अलकधारिणी के मांसल चित्र भी कवि ने बड़े उल्लास के साथ अंकित किये हैं। काले कुंचित कुन्तलों के एक कमनीय चित्र का अवलोकन कीजिए—

बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से,
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से।

इसी प्रकार भुज-लताओं की सुषमा निम्न पद में किस प्रकार निखर उठी है—

थी किस अनंग के धनु की, वह शिथिल शिंजिनी दुहरी।
अलबेली बाहुलता पर, तनु-छवि-सर की नव लहरी।

इतना ही नहीं कवि तो यहाँ तक स्पष्ट रूप में कह देता है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निश्वास - मलय के झोंके।
मुख - चन्द्र - चाँदनी - जल से, मैं उठता था मुँह धोके॥

'आँसू' में मलयज की मृदुल हिलोरों के समान किसी के क्षण-भर छूकर छिप जाने की निष्ठुरता का आघात आँखों की राह से वह निकला। किसी के शिरीष कोमल हृदय ने कवि के हीरे-से निर्मल हृदय को कुचल डाला।

घन में सुन्दर बिजली-सी, बिजली में चपल चमक-सी
आँखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक-सी
प्रतिमा में सजीवता-सी बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।

उसी छवि को बार-बार देखने के लिए आँखें अब भी तरस रही

पर अब वह व्यर्थ में आँसू बहाना छोड़कर आशा और उत्साह का संदेश दे रहा है—

अब जागो जीवन के प्रभात, वसुधा पर ओस बने बिखरे।
हिमकन आँसू जो क्षोभ-भरे ऊषा बटोरती अरुण गात।

इसी प्रकार—

बीती विभावरी जाग री
अम्बर-पनघट में डुबा रही तारा-घट ऊषा-नागरी

आदि कविताओं में प्रकृति के कमनीयतम चित्र भी सचमुच अवलोकनीय बन पड़े हैं।

'प्रसाद' जी का नाट्य-साहित्य—

प्रसाद जी की पद्यकाव्य की समीक्षा के पश्चात् उनके नाट्य-साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना उपयुक्त होगा। प्रसाद जी के नाटकों को एकांकी नाटक और पूर्ण नाटक दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रसाद जी ने बीस वर्ष की अवस्था में ही नाटक लिखने आरम्भ कर दिये थे किन्तु अभी उनमें कोई दिशा स्थिर नहीं होने पाई थी। आपने एकांकी से ही नाटक-लेखन का श्रीगणेश किया। 'सज्जन' सं० १९६७ में तथा 'प्रायश्चित्त' सं० १९६८ में, 'इन्दु' तथा 'काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए। 'कल्याणी-परिणय' सं० १९७१ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ। इनमें प्रसाद जी अभी कोई निश्चित दिशा निर्धारित नहीं कर पाये। ये एक प्रकार से प्रयोगकालीन नाटक हैं। इनमें नवीन और प्राचीन दोनों शैलियों की ओर कवि का झुकाव स्पष्ट लक्षित होता है।

सज्जन—इसकी कथा महाभारत के उस अंश से ली गई है जिसमें युधिष्ठिर चित्रसेन से दुर्योधन की रक्षा के लिए अर्जुन को भेजते हैं। इसमें नान्दी, सूत्रधार भरतवाक्य आदि का प्रयोग भी हुआ है। अतः इसे प्राचीन शैली का नाटक कह सकते हैं।

अलौकिक आत्मा-परमात्मा की खोज में उलझ जाता है। इस प्रकार की क्वाचित्क अस्पष्टताओं के रहते हुए भी 'आँसू' प्रसाद जी की एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। 'आँसू' में प्रसाद जी भावुक कवि और कुशल कलाकार—दोनों रूपों में सर्वांशतः सफल सिद्ध हुए हैं। छाया-वाद-युग भावुकता और कलात्मकता को ही विशेष रूप से स्पन्दित करता रहा है, इसीलिए कह सकते हैं कि 'आँसू' में छायावाद को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन सर्वांशतः सत्य है कि 'आँसू' में प्रसाद जी ने यह निश्चय रूप से प्रकट कर दिया है कि मानुषीय विरह-मिलन के इंगितों पर वे विराट् प्रकृति को भी साज सजा कर नाच नचा सकते हैं। यह शेष प्रकृति पर मानवता की विजय का शंखनाद है। कवि जयशंकर 'प्रसाद' का प्रकर्ष यहीं पर है। यहीं प्रसाद जी प्रसाद जी हैं। 'आँसू' में वे वे हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी ने 'आँसू' के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे भी पर्याप्त प्रौढ़ हैं। वे कहते हैं—"वेदना की भयंकर बाढ़ में युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता प्रसाद जी के इन 'आँसुओं' में रही है, वह हमारे साहित्य के युग में वास्तव में अतुलनीय है।"

लहर—यह संगीत और कल्पना-प्रधान मुक्तक काव्य है। इसमें प्रकृति के सुन्दर चित्रों के साथ अतीत के चलचित्र भी अंकित हुए हैं, जिनमें कवि के वैयक्तिक अतीत की अनुभूतियाँ तथा इतिहास की पुरातन चित्रावलियाँ दोनों सम्मिलित हैं। 'अशोक की चिन्ता', 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'पिछोला की प्रतिध्वनि', 'प्रलय की छाया' तथा 'अरी ओ वरुणा की शान्त कछार' आदि कविताओं में पुरातन ऐतिह्य के प्रखर चित्र मुखरित हुए हैं। इसके साथ ही जिसके लिए कवि ने 'आंसू' बहाये उसकी स्मृति भी कभी-कभी कौंध जाती है—

तुम्हारी आँखों का बचपन खेलता था जब अल्हड़ खेल,
आह रे वह अतीत जीवन।

व्यक्ति प्रदान की है। पुराण-युग के 'करुणालय' और महाभारत-युग के 'सज्जन' नाटकों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अब यहाँ आगामी युगों के कथानकों को लेकर लिखे गये नाटकों पर विचार किया जायगा।

जनमेजय का नाग-यज्ञ—यह नाटक कलियुग के आरम्भ-काल की पौराणिक घटना पर आधारित है। इसमें आर्य और नाग-जाति के संघर्ष की कथा कही गई है। नाटक में कलात्मकता की अपेक्षा चरित्र-चित्रण को ही प्रधानता दी गई है। संघर्षमय वातावरण की सृष्टि करने की कवि की अद्भुत क्षमता इस नाटक से प्रकट होती है।

अजातशत्रु—इस नाटक में मगध-सम्राट् बिम्बसार के पुत्र अजात-शत्रु को केन्द्र मानकर महात्मा बुद्ध के समय का राजनैतिक घटना-चक्र चित्रित किया गया है।

चन्द्रगुप्त—इसमें मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के समय का इतिहास उज्ज्वलतम रूप में अंकित हुआ है। यूँ तो प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' 'स्कन्दगुप्त' आदि सभी ऐतिहासिक नाटकों के आरम्भिक प्राक्कथनों में अपनी ऐतिहासिक गवेषणाओं का परिचय दिया है, पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रारम्भ में भूमिका लिख कर उन्होंने जिस मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया, उसे देखकर बड़े-बड़े ऐतिहासिक पुरातत्व-वेत्ताओं को भी प्रसाद जी को ऐतिहासिक प्रतिभा का लोहा मानना पड़ गया। लेखक ने दृढ़तर प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि सिकन्दर नन्द की विशाल सेना का सामना न कर सकने के कारण व्यास नदी से वापिस लौट गया और वह वीर मालव-जाति से युद्ध में पराजित व घायल हो गया था।

साथ ही चन्द्रगुप्त को नन्द की मुरा नामक दासी से उत्पन्न पुत्र न मानकर बौद्ध-जातकों के आधार पर कपिलवस्तु का शाक्यवंशीय मौर्य क्षत्रिय-कुमार माना है। आरम्भ से अन्त तक राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत इस नाटक में शौर्य, साहस, तप व त्याग की प्रबल

प्रायश्चित्त—इसमें पृथ्वीराज और जयचन्द के पारस्परिक विद्वेष की कथा को कल्पना के पुट से चमत्कृत कर अंकित किया गया है। इसमें नान्दी, सूत्रधार आदि नहीं हैं। और न 'सज्जन' के समान पद्यात्मक संवाद ही प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए इसे नवीन शैली का नाटक कह सकते हैं।

कल्याणी-परिणय—इसमें चन्द्रगुप्त और सैल्यूकस के युद्ध के समय की घटना अंकित हुई है। इसमें यत्र-तत्र गीतों का समावेश भी है। साथ ही नान्दी और सूत्रधार भी यथापूर्व विद्यमान हैं। इस प्रकार इसमें नवीन और प्राचीन शैलियों का समन्वय कर दिया गया है। 'कल्याणी-परिणय' ही आगे चलकर 'चन्द्रगुप्त' जैसे महान् नाटक के रूप में परिणत हो गया।

करुणालय—यह गीतनाट्य है, जो अतुकान्त मात्रिक छन्दों में लिखा गया है। इसमें हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और उनके पुत्र शुनःशेप आदि पौराणिक चरित्रों की अवतारणा हुई है।

इन चारों नाटकों में प्रसाद जी की कला का आरम्भिक रूप ही है। आगे चलकर इस कला ने प्रौढ़ और परिमार्जित रूप में दर्शन दिये। इस समय के 'विशाख', 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुव-स्वामिनी' आदि सभी नाटक अत्यन्त प्रौढ़ हैं।

विशाख—इस नाटक में 'राज-तरंगिणी' के आधार पर काश्मीर-नरेश नरदेव के समय की घटना अंकित की गई है। इसमें प्रसाद जी की गवेषणात्मक प्रतिभा का सर्वप्रथम परिचय मिलता है।

जिस प्रकार गुप्त जी ने अपने काव्यों में पुराण-काल से लेकर आज तक की भावनाओं तथा घटनाओं को अंकित किया है, उसी प्रकार प्रसाद जी ने भी अपने नाटकों के द्वारा महाभारत तथा पुराण-काल से लेकर आज तक की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक धारा को मूर्त अभि-

स्कन्दगुप्त—इसमें गुप्तवंशीय प्रतापी सम्राट् स्कन्दगुप्त के समय का इतिहास अंकित किया गया है। स्कन्दगुप्त के समय में भारत पर हूणों के आक्रमण बड़ी प्रबलता से हुए थे। स्कन्दगुप्त ने उनको भारत से बाहर खदेड़ने के अथक प्रयत्न किये; साथ ही उसे आन्तरिक संघर्षों का भी सामना करना पड़ा। इन सब राजनैतिक दाँवपेचों और संघर्षों को नाटकीय रूप में अंकित करने का प्रयत्न स्तुत्य है। शुक्ल जी आदि अनेक आलोचकों ने इसे प्रसाद जी का सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा है, पर हमारे विचार में नाटकीय कला की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' को उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा जा सकता है। यदि साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो 'चन्द्रगुप्त' को प्रमुख स्थान प्राप्त होगा।

ध्रुवस्वामिनी—यह नाटक गुप्त-वंश के अस्तमन समय के कथानक को लेकर लिखा गया है। इसमें पुनर्विवाह एवं नारी के व्यक्तित्व की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इसकी समग्र घटनाएँ और कार्य-व्यापार एक ही स्थान पर घटते हैं। साहित्यिकता के साथ अभिनेय तत्त्वों का भी इसमें पूर्ण समावेश है। इसे एक प्रकार से समस्या-नाटक भी कह सकते हैं। इस नाटक को लिखकर प्रसाद जी ने यह सिद्ध कर दिया, कि वे नवीन दृष्टिकोण के अनुसार अभिनेय नाटक भी वैसी ही सफलता के साथ लिख सकते थे।

राज्यश्री—इस नाटक में सम्राट् हर्षवर्द्धन की बहिन राज्यश्री को मुख्य पात्र मानकर हर्षवर्धन के समय का चित्र अंकित किया गया है।

'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' आदि में जो राष्ट्रीयता का स्वरूप है, वह आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कितने ही सूत्रों को समेटे हुए है। फिर भी ऐतिहासिक कथाओं में सामयिक समस्याओं की सीधी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और न युग की विकृतियों को ही

वेगवती धारा अजस्र रूप से प्रवाहित हो रही है। चाणक्य कहते हैं कि "मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह (आत्मसम्मान) मिलेगा।" इसी प्रकार दूसरे पात्र भी भारत राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए सर्वदा सजग रहते हैं। अलका द्वारा गाये गये निम्नस्थ गीत को पढ़ते-सुनते तो सहृदयों के हृदय मारे उत्साह के बल्लियों उछलने लगते हैं—

हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।"
अराति सैन्य-सिन्धु पै, सुवाड़वाग्नि-से जलो।

चाणक्य की राजनैतिक दूरदर्शिता और व्यवहार-कुशलता, अलका की देशभक्ति, सिंहरण की अपूर्व वीरता और मालविका की अलौकिक त्याग-भावना के आगे प्रत्येक सहृदय का मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है। घटना-जाल के विस्तार, अनेक पात्रों की भरमार एवं संस्कृतनिष्ठ पदावली के व्यवहार के कारण यह नाटक सर्वसाधारण की पहुँच से परे का है। साथ ही इसमें सिकन्दर के आक्रमण से लेकर सेल्युकस के आक्रमण तक के तीस वर्षों का मगध से गांधार तक के विस्तृत प्रदेश में घटित घटना-चक्र चित्रित हुआ है। इसे देखकर कुछ आलोचक कह बैठते हैं कि प्रसाद जी के नाटकों में संकलनत्रय का ध्यान नहीं रखा गया है। स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद जी के नाटकों में देश-काल की विभिन्नता के कारण रस-संचार या कथा-प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ पाती। यह प्रसाद जी की अपूर्व कल्पना-कुशलता का अलौकिक चमत्कार है कि उन्होंने इतने लम्बे समय के ऐसे विस्तृत इतिहास को इतनी सरलता से नाटक के ढाँचे में बाँध दिया।

अलका, मालविका और कल्याणी आदि महनीय नारी चरित्रों की अवतारणा के द्वारा प्रसाद जी ने नारी के प्रति असीम सम्मान व्यक्त किया है, उनके पात्र सशक्त और सजीव हैं, यन्त्रचालित नहीं। ये नाटक शुद्ध रूप से साहित्यिक हैं। अभिनय की तो बात दूसरी रही, इनको पढ़कर भी रस वे ही ले सकते हैं जिनकी साहित्यिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सुदृढ़ हो। सामान्य पाठक को तो इन ऐतिहासिक रसान्वित नाटकों से निराश ही होना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में प्रसाद जी ने स्वयं लिखा है—"मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त शैदा या आगा हश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी-तोली जानी चाहिएँ। मैंने कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मंगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्के वाले, खोंचे वाले और दूकानदारों को बटोर कर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। 'उत्तररामचरित', 'मुद्राराक्षस' और 'शकुन्तला' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते और न जनसाधारण में रसोद्रेक का कारण बन सकते। उनकी काव्य-प्रधान-शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि-सम्पन्न दर्शक हों, पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाय तो मेरे नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।"

'प्रसाद' जी का कथा-साहित्य—

अब उनके कथा-साहित्य—उपन्यास व कहानियों पर भी विचार करना उपयुक्त होगा। उनके तीनों उपन्यास (१) कंकाल, (२) तितली, (३) इरावती हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

कंकाल—इसमें समाज के दैनिक जीवन के ऐसे सैंकड़ों चित्र सफलतापूर्वक अंकित किये गये हैं, जिनके द्वारा समाज के ठेकेदारों की पोलें खोलकर उन्हें वास्तविक रूप में जनता के समक्ष उपस्थित कर दिया गया है। समाज के गलिताङ्गों को चुनौती देने वाले इस

चित्रित किया जा सकता है। इसके लिए प्रसाद जी ने 'कामना' और 'एक घूँट' नामक दो रूपक नाटकों की सृष्टि की।

कामना—किस प्रकार प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में पड़े एक भोले-भाले देश को विदेशियों के सम्पर्क के कारण विलासिता में डूबकर अपने जीवन को संघर्षों में डालना पड़ गया, यही इसका प्रतिपाद्य विषय है। यदि भारत को फूलों का देश और विदेशी युवक को अंग्रेजों का प्रतीक मान लें तो भारत की पराधीनता का इतिहास इसमें पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होने लगता है।

एक घूँट—इसमें स्वच्छन्द प्रेम और विवाहित जीवन का तारतम्य दिखाया गया है। विवाहित जीवन की श्रेष्ठता सिद्ध करके इस नाटक में स्वच्छन्द प्रेम की असम्भावना को स्पष्ट सिद्ध कर दिया है। इसका प्रकृति-सौन्दर्य भी अद्वितीय है। 'कामना' की चिन्तनशील भावुकता और 'एक घूँट' की प्रकृति-सौन्दर्य से युक्त यथार्थता ही मानो 'कामायनी' के जीवन-सौन्दर्य की भूमिकाएँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों में भारत के अतीत की गौरवगाथा को बड़े ही सबल रूप में चित्रित किया है। वे ढूँढ-ढूँढ कर इतिहास के भूले हुए अध्यायों को जनता के समक्ष उपस्थित कर वास्तविक स्वाभिमान के भाव को भरते रहे। प्रत्येक नाटक में उस युग का वातावरण ज्यों-का-त्यों उपस्थित किया गया है। देश-काल की परिस्थितियों का जैसा ध्यान प्रसाद जी ने इन नाटकों में रखा है, वह वास्तव में उन्हीं का काम है। इन नाटकों के प्राचीन कथानकों में नवीन भावनाओं को बड़े ही कलात्मक तथा स्वाभाविक रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। प्रसाद जी के अधिकतर नाटक काव्य-कला की अलौकिक कमनीयता से कलित हैं। ये नाटक अधिकतर चरित्र-प्रधान हैं। आर्य-संस्कृति के साथ-ही-साथ नारी-जाति के प्रति भी असीम श्रद्धा इन नाटकों में अभिव्यक्त हुई है। 'चन्द्रगुप्त' की

शैव-सिद्धान्तों के आनन्दवाद को ही मुख्यतः प्रश्रय दिया है। इसके चरित्रों से ज्ञात होता है कि प्रसाद जी ऐतिहासिक वातावरण, कथानक और भाव-चित्रण की ओर ही अधिक झुके हुए थे। चरित्रों के निरूपण, विकास और विश्लेषण की ओर इनका ध्यान इतना नहीं गया। अपूर्ण होने पर भी इस उपन्यास से हमें ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की झलक मिल जाती है। प्रसाद जी ने अपने उपन्यासों के द्वारा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को आश्चर्यजनक घटनाओं के जंजाल से निकालकर उच्च भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उनके सभी पात्र सजीव और स्पष्टवक्ता हैं। वे हृदय के पाप-पुण्य छिपाकर दूसरों के घृणा और द्वेष के पात्र नहीं बनते। वे सदा पाठक की सहानुभूति के पात्र बने रहते हैं। आन्तरिक द्वन्द्व, दृश्यों का स्वाभाविक चित्रण, भाव-प्रवणता, भाषा की सरलता, चित्रमय सूक्तियों का बाहुल्य, समाज की विविध समस्याओं का चित्रण आदि प्रसाद जी के उपन्यासों की अपनी विशेषताएँ हैं।

उपन्यासों के समान कहानी-साहित्य भी प्रसाद जी का बहुत बढ़ा-चढ़ा है। हिन्दी के उच्चकोटि के कहानी-लेखकों में आपका प्रमुख स्थान है। प्रसाद जी ने सं० १९६८ से कहानी लिखना आरम्भ कर दिया था। आपकी सर्वप्रथम कहानी 'ग्राम' सं० १९६८ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। इनकी कुछ प्रारम्भिक कहानियाँ 'चित्राधार' में संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त 'छाया' (सं० १९६९), प्रतिध्वनि (सं० १९८३), आकाशदीप (सं० १९८६), आँधी (१९८८) और इन्द्रजाल (सं० १९९०) पांच संग्रह हैं। इन कहानियों को ऐतिहासिक और सामाजिक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में अनेक ऐतिहासिक कहानियां हैं।

कहानियों के अतिरिक्त निबन्ध भी आपके उच्चकोटि के हैं। इनके निबन्धों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

यथार्थवादी उपन्यास में प्रसाद जी यथार्थवादी कलाकार के रूप में उपस्थित हुए हैं। इसमें दो कथाएँ समानान्तर रूप से चलती हैं और दोनों को बड़ी सतर्कता से एक सूत्र से गूंथ दिया गया है।

तितली—इसमें ग्रामीणों की दुर्दशा का चित्र अंकित करते हुए इस दुर्दशा से मुक्ति के उपायों पर भी प्रकाश डाला गया है। 'कंकाल' की अपेक्षा इसका कथानक भी सुगठित है और घटनाओं का विस्तार भी अधिक नहीं। यहाँ भी 'कंकाल' के समान दो कथानक समानान्तर रूप में चल रहे हैं जो इस प्रकार एक सूत्र में आबद्ध हैं कि एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसमें प्रासङ्गिक कथानक भी नहीं हैं। 'तितली' से प्रसाद जी की उच्चकोटि की सृजन-शक्ति का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।

इरावती—यह प्रसाद जी का तीसरा और अन्तिम अपूर्ण उपन्यास है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है। इसमें शुंग-वंश से सम्बन्ध रखनेवाली कथा है। वास्तव में भारतीय इतिहास में शुंग-राज्य-काल का समय बड़ा महत्त्वपूर्ण है। पुष्यमित्र और अग्निमित्र आदि सम्राटों ने आर्यसंस्कृति के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। प्रसाद जी की आर्यसंस्कृति के प्रति अटल आस्था थी। उनसे फिल्म के लिए ऐतिहासिक स्टोरी लिखने का आग्रह किया गया तो उन्होंने कहा कि "भाई, बम्बई जाकर प्रेमचन्द जी को जो मज़ा मिला, यह सब जानते हैं। फिर भी मैं कोशिश करूँगा।" तदनुसार उन्होंने पुष्यमित्र की कथा लिखनी आरम्भ कर दी पर वह पूर्ण न हो सकी। पुष्यमित्र ने वास्तव में पतनोन्मुख बौद्ध धर्म के विरुद्ध वैदिक धर्म का झंडा फिर से लहरा कर स्तुत्य कार्य किया था। उस समय भगवान् महाकाल शिवशंकर की उपासना का प्रचार ज़ोरों पर था। यह शैव-धर्म आनन्दवादी था। इरावती का प्रेमी आनन्द भिक्षुक इसी आनन्दवाद का उपासक है। इस उपन्यास में कवि ने

कवित्व की दृष्टि से तो गोस्वामी जी और प्रसाद जी का जोड़ा ही अद्वितीय माना जायगा। प्रसाद जी वास्तव में इस युग के प्रतिनिधि कवि होकर भी विश्वजनीन प्रतिभासम्पन्न सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक महाकवि थे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। अब यहाँ अधिक न कहते हुए प्रसाद जी की अंतिम दो अधूरी कविताएँ उद्धृत कर इस लेख को समाप्त करते हैं—

(१)

मेरे जीवन के ध्रुव तारा
तेरी करुणा छाई हो बन नभ का श्याम सितारा।
चंचल ग्रह नाचे सूना पथ मचले जलनिधि खारा।
मेरी तरी तिरे पाकर तव मधुर ज्योति की धारा।

(२)

आज जीवन में तरल सुख! विश्व मदिरा-सा भरा है।
प्राण मादन वह मधुर सुख।

अन्त में हम राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के मार्मिक शब्दों में भारत की इस महान् विभूति को कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं—

'जयशंकर' कहते-कहते ही अब भी काशी जाएँगे,
किन्तु प्रसाद न विश्वनाथ का मूर्तिमन्त हम पाएँगे।
तात, भस्म भी तेरे तनु की हिन्दी की विभूति होगी,
पर हम जो हँसते जाते थे, रोते-रोते आएँगे।

(१) इनके आरम्भिक काल के पांच प्रबन्ध, 'चित्राधार' में दिये गये हैं। (२) वे निबन्ध हैं जो इन्होंने भूमिका के रूप में लिखे हैं। 'कामायनी' महाकाव्य समाप्त करने के पश्चात् 'इन्द्र' पर एक नाटक लिखने का उनका विचार था और उसके लिए उन्होंने सामग्री भी एकत्र की थी। यह सामग्री निबन्ध के रूप में प्रकाशित हुई और इससे पता चला कि इन्द्र ही प्राचीन आर्यावर्त के प्रथम सम्राट् थे। इसमें प्रसाद जी की प्रखर प्रतिभा और गवेषणा-शक्ति का आभास मिलता है। (३) इस भाग में प्रसाद जी के उन निबन्धों की गणना की जाती है जिनका संकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् 'काव्य और कला' तथा अन्य निबन्ध के नाम से किया गया है। यह निबन्ध भाव, भाषा तथा शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबन्धों की उनके प्रथम निबन्धों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद जी ने बीस वर्ष की अवधि में अपने को कितना ऊँचा उठाया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक और मानवता के प्रचारक थे। उनकी सभी रचनाएँ विभिन्न उद्देश्यों को लेकर लिखी गईं। वे कवि के रूप में यौवन और प्रणय के सरस गीतों के गायक हैं। नाटकों में वे भारतीय संस्कृति के महान् संदेश-वाहक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। उपन्यासकार एवं कहानीकार के रूप में सामयिक एवं शाश्वत समस्याओं को उन्होंने बड़ी तीव्र अभिव्यक्ति दी है। निबन्धों में हिन्दी के पुरातत्त्वान्वेषियों के समक्ष गम्भीर गवेषणा का मार्ग प्रदर्शित किया है। सात्त्विक प्रणयानुभूति, मानवता और आर्य-संस्कृति के प्रति अनुरक्ति की त्रिवेणी की धारा से प्रसाद-साहित्य सर्वतोभावेन रसार्द्र हो रहा है। सर्वतोमुखी प्रतिभा की दृष्टि से पहिले तुलसीदास, भारतेन्दु और प्रसाद जी की 'त्रयी' का उल्लेख किया गया है; पर उच्चतम

शीर्षक रचना अत्यन्त गम्भीर और लोकप्रिय है। अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने में ये भी प्रसाद जी के समकक्ष हैं। 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति-साधना' आदि इनकी रचनाओं में प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम प्रकट होता है। 'भिक्षुक', 'विधवा', 'तोड़ती पत्थर' आदि इनकी रचनाएँ प्रगतिवाद का रूप प्रकट करती हैं। कविताओं के अतिरिक्त कहानी, उपन्यास और निबन्ध भी इनके लोकप्रिय एवं सत्कृत हुए हैं। इनकी ये रचनाएँ प्रसिद्ध हैं :—

अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, बेला, अणिमा, अपरा और नये पत्ते काव्य-संग्रह। अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती, उच्छृङ्खल, चोटी की पकड़, काले कारनामे, चमेली आदि उपन्यास। लिली, सखी, चतुरी चमार, सुकुल की बीवी आदि कहानी-संग्रह। कुल्लीभाट, बिल्लेसुर, बकरिहा आदि रेखाचित्र। प्रबन्ध-पद्य, प्रबन्ध-प्रतिमा, प्रबन्ध-परिचय, रवीन्द्र-कविता-कानन आदि आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह। राणाप्रताप, भीम, प्रह्लाद, ध्रुव, शकुन्तला आदि जीवनचरित्र। महाभारत, श्रीरामकृष्ण-रसनामृत (चार भाग), स्वामी विवेकानन्द जी के भाषण, देवी चौधरानी, आनन्द-मठ, दुर्गेशनन्दिनी, युगलांगुलीय, वात्स्यायन-कामसूत्र तथा तुलसी-रामायण की टीका व गोविन्ददास-पदावली (पद्य में) अनूदित ग्रन्थ। ये 'समन्वय' और 'मतवाला' नामक पत्रों के सम्पादक भी रहे थे। द्विवेदी जी से इन्हें सदा पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त होता रहता था। संवत् २००३ में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में इनकी जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनाई गई। अत्यन्त भावुक और मनमौजी यह कवि आर्थिक संकटों के कारण जीवन से उदास होकर अब शारीरिक व मानसिक शक्ति से शिथिल हो चुका है।

निराला जी स्वच्छन्द प्रकृति के कवि हैं और अपनी प्रकृति के

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म सं० १९५५

निराला जी का जन्म संवत् १९५५ में ज़िला मेदिनीपुर (बंगाल) में हुआ। अतः आप जन्मजात बंगलाभाषी हैं। संस्कृत, बंगला संगीत एवं दर्शनादि का आपने गम्भीर अध्ययन किया है। आपकी रचनाओं में इन सब का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। निराला जी हिन्दी के युगान्तरकारी स्वच्छन्दवादी कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में प्रसाद जी ने जिन नवीन प्रवृत्तियों को पल्लवित किया था उन्हें विकसित करनेवालों में आप सर्वप्रमुख हैं। आधुनिक युग की रहस्यवाद-सम्बन्धी काव्यधारा के ये मुख्य स्तम्भ समझे जाते हैं। प्रसाद जी की भाँति दार्शनिकता तथा आध्यात्मिकता इनके काव्य की दो विशेषताएँ हैं। भाषा और छन्द के बन्धन को तोड़ कर इनकी प्रतिभा ने एक अभिनव पथ को परिष्कृत किया है। अतुकान्त एवं मुक्त छन्द की कविता के ये कुशल काव्यकार हैं। हिन्दी में गीति-काव्य की प्रणाली का प्रचार इन्हीं से हुआ है। गम्भीर दार्शनिकता और निराली प्रतिपादन-शैली के कारण अनेक स्थलों पर इनके चित्र उलझे हुए एवं दुरूह हो गये हैं, किन्तु जहाँ भाषा सरल और कल्पना स्वाभाविक है, वहाँ इनके व्यक्तित्व एवं प्रतिभा का प्रभाव पर्याप्त स्पष्ट और आकर्षक है। इनके साहित्य पर बंगला और अंग्रेज़ी का प्रभाव है। रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द जी के दार्शनिक विचार आपकी दार्शनिक रचनाओं में सर्वत्र झलकते हैं। 'तुम और मैं'

ही नहीं, उन्हें अपनी पुत्री की मृत्यु से भी बहुत बड़ी चोट लगी है। उनके एकमात्र पुत्र श्रीरामकृष्ण संगीतशास्त्र के पारंगत हैं।

निराला जी स्वयं भी संगीत-प्रेमी हैं। कभी-कभी वे गाते-गाते इतने तन्मय हो जाते हैं कि अंगुलियाँ द्रुत वेग से चलने लगती हैं; उनका प्रहार इतना सबल हो जाता है मानो वे तबले के बोल भी हारमोनियम से निकाल कर मानेंगे। उनके संगीत में स्वर-सौंदर्य को पूर्ण प्रसार मिला है। लिखते समय उनकी यह तन्मयता और भी बढ़ जाती है। 'तुलसीदास' लिखते समय घंटों, यहाँ तक कि रात के एक-दो बजे तक 'मोगल दल बल के जलद्यान' से उलझे रहते थे। कविता-पाठ और भाषण में भी उनकी अपनी विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। दुरूहता, अस्पष्टता आदि के आक्षेप होने पर भी वे अपनी कविता सुनाकर सभा को तन्मय करने की क्षमता रखते हैं। चाहे 'जुही की कली' के समान सौंदर्य-प्रधान रचना हो, चाहे—

समर में अमर कर प्राण, गान गाये महासिन्धु से।

जैसी वीररसपूर्ण रचना हो, वे अपने उदार एवं मन्द्र स्वरों से भाव-सौंदर्य को समान रूप से प्रकट कर सकते हैं। जब वे—

कम्पित जंगम नीड़ विहंगम,—ऐ न व्यथा पाने वाले।

कहते हुए बादल को सम्बोधित करते हैं तो उनका स्वर ही क्रान्ति का भावचित्र बन जाता है। 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कविताओं की दीर्घ पंक्तियाँ लहरों की भाँति पछाड़ खाती हुई गिरती हैं। उनचास पवनों का चलना, समुद्र की लहरों का आकाश छूना, अन्धकार का जल की भाँति बहना, राक्षसों का अट्टहास, राक्षसों और वानरों के पदाघात से दिङ्मंडल का कंपित होना आदि क्रियाओं को कविता-पाठ के द्वारा वे चित्रवत् अंकित कर देते हैं। 'राम की शक्ति-पूजा' वास्तव में उनकी सबसे ओजपूर्ण रचना है जिसे वे पूर्ण तल्लीनता से सुनाते भी थे। मंच पर खड़े हुए ऊँचा हाथ उठा कर—

अनुकूल ही कविता-कामिनी को स्वच्छन्दता देकर आपने उसका स्वाभाविक संगीतमय सौन्दर्य उद्भासित करने का प्रयत्न किया है। निराला जी के हम कई रूपों में दर्शन करते हैं। ये विचारों से अद्वैतवादी हैं किन्तु इनका हृदय भक्ति और प्रेम का आगार है। अपनी कुछ रचनाओं में ये दार्शनिक विचारों की ओर उन्मुख जान पड़ते हैं।

निराला जी आरम्भ से अन्त तक सर्वतोभावेन पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्तित्व-सम्पन्न महाकवि हैं। गुरुजनों के प्रति अत्यन्त श्रद्धावनत होते हुए भी वे आर्थिक या राजनैतिक दृष्टि से किसी को अपने से बड़ा नहीं मान सकते। सब के मुँह पर खरी-खरी कह देने की उनकी प्रकृति है। जिस वर्ष महात्मा जी इन्दौर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति थे, उसी वर्ष वे उनसे मिलने के लिए गये और कहने लगे—"मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति महात्मा गांधी जी से मिलने आया हूँ, राजनीति के नेता से नहीं।" इसी प्रकार लखनऊ में एक बार एक राजा साहिब ने प्रमुख कवि-गणों को निमंत्रित किया। जब सब कवियों का एक-एक करके राजा साहिब से परिचय कराया जा रहा था तो निराला जी का नम्बर आने पर ये स्वयं अपना परिचय देते हुए राजा साहिब से बोले—"हम, हम वे हैं जिनके बाप-दादों की पालकी तुम्हारे बाप-दादा उठाया करते थे।"

इस प्रकार कवि की निर्भीकता पद-पद पर मुखरित हो रही है। निराला जी का साहित्यिक जीवन 'मतवाला' पत्र से आरम्भ होता है। इस पत्र में ही सर्वप्रथम इन्होंने सूर्यकुमार से बदल कर अपना पूरा नाम पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' प्रकाशित किया। बीस वर्ष की अवस्था में 'निराला' जी को असह्य पत्नि-वियोग सहना पड़ा। तब से वे विधुर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। एक बार किसी ने उनके कठिनाइयों से भरे विधुर जीवन के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो वे बोले—"जैसे एक कुलीन विधवा रहती है, वैसे मैं भी रहता हूँ।" पत्नि-वियोग

जोशी-बन्धुओं ने लिखा था कि "सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नारीत्व के भाव से भरा हुआ है।" इस पर निराला जी ने गदाधर के गद्य-काव्य को स्मरण किया है। गदाधर लिख रहे थे कि "हे सखी, मैं जो मर रहा हूँ, यह सब तुम्हारी ही करुणा है, मेरे जीवन की हरी-हरी डालियाँ..." इतना ही लिख पाये थे कि निराला जी ने उनका हाथ पकड़ कर पूछा कि तुम्हारे मरने से सखी की करुणा का क्या सम्बन्ध है। उत्तर मिला—कुछ नहीं; अनन्त में विरह को व्याप्त करने से ऐसे ही साहित्य की सृष्टि होती है। सृष्टि के केन्द्रस्थित अनन्तव्यापी विरह की अनुभूति आदि निरर्थक शब्दावली की ओर इंगित करके निराला जी कहते हैं, "कैसी अद्भुत शब्दमरीचिका है कि भाव का प्यासा भटकता ही मर जाय। और सत्य कितना उज्ज्वल ? दीपक की तरह अपने ही नीचे अंधकार। धन्य है, धन्य है ! जिस सृष्टि के केन्द्र में ब्रह्म है, आनन्द है, सत्य है, ज्ञान है वहाँ अनन्त व्यापी विरह, अनन्त वियोग, अनन्त अज्ञान, अनन्त दुःख ! क्या बात, क्या कहने !"

जोशी-बन्धुओं ने तुलसीदास जी का इस लेख में इस प्रकार उल्लेख किया था कि वे विरहवादी विश्वकवि 'रविबाबू' के समक्ष हेठे लगें। इस पर निराला जी ने गोस्वामी जी के जीवन की कठोर तपस्या और निश्छल सत्यपरता से अर्थोपार्जन से निश्चिन्त होकर ब्रह्मवादी कविता करने वाले विश्वकवि के जीवन की तुलना कर यह सिद्ध कर दिया कि गोस्वामी जी का स्थान कहीं ऊँचा है।

इस प्रकार बुद्धि के क्षेत्र में अद्वैतमूलक आनन्दवादी होते हुए भी भावना के क्षेत्र में वे भावुक भक्त ही हैं। भारतीयता तो उनकी नस-नस में समाई हुई है। स्वातन्त्र्य-प्रियता के कारण वे स्वाभिमानी हैं। स्वतन्त्रता, साहस और निर्भीकता का उनमें अनुपम समन्वय रहा है। अपनी इन प्रवृत्तियों को उन्होंने अपने साहित्य में भी ढाला है, उन्होंने हिन्दी-काव्य को रूढ़िगत बन्धनों से उन्मुक्त कर

चमकती दूर हों ताराएँ ज्यों कहीं पार

का भाव वही प्रदर्शित कर सकते हैं। इसी प्रकार—

हो श्वसित पवन उच्छ्वास पिता पक्ष से तुमुल

का भाव प्रदर्शित करते हुए उनके केशगुच्छ झटका खाती हुई गर्दन के आसपास असाधारण रूप से चंचल हो उठते थे।

मुक्त ! तुम्हारे मुक्त कंठ में स्वरारोह अवरोह विघात,
मधुर मन्द्र उठ पुनः पुनः ध्वनि छा लेती है गगन,
श्याम कानन सुरभित उद्यान,

बादल-राग की यह पंक्तियाँ स्वयं उन पर अक्षरशः चरितार्थ होती हैं।

निराला जी की भाषा सामान्यतया साधारण सुव्यवस्थित हिन्दी है, तत्सम-प्रधान होते हुए भी पन्त जी के समान समासबहुला नहीं। वे पन्त जी की संस्कृतनिष्ठ पदावली का मज़ाक उड़ाते हुए उसे 'शणवल' के नाम से सम्बोधित किया करते थे। पर 'विजन-वन-वल्लरी' तथा 'शत शत अब्दों का सान्ध्यकाल' आदि उनकी एक-दो नहीं सैंकड़ों कविताओं में इसी 'शणवल' की प्रधानता है। इसके लिए वे कहा करते थे कि यह शपाशप कालिदास के प्रभाव के कारण हो गई है।

दार्शनिक दृष्टि से निराला जी अद्वैतवादी हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है, फलतः जीव भी आनन्दमय है। यही कारण है कि छायावादियों के विरहगीतों की कई बार उन्होंने बड़ी हँसी उड़ाई थी। 'कला के विरह में जोशी बन्धु' शीर्षक लेख में उन्होंने विरहवाद की छिछालेदर करते हुए लिखा है कि यह कहना कि ब्रह्मा की सृष्टि के रोम-रोम में विरह का भाव व्याप्त था, साँप का विष झाड़ने का मन्त्र पढ़ना है। निराला जी ने पैरोडी अस्त्र का प्रयोग करते हुए लिखा है—

अनमिल आखर अर्थ न जाकू।
जोशी युग कृत प्रकट प्रतापू ॥

नं प्राचीन रूढ़ि-बन्धन सर्वथा लुप्त हो गये। 'राम की शक्ति-पूजा', 'किसान की नई बहु की आँखें', 'खुला आसमान', 'ठूँठ'; 'तोड़ती-पत्थर' आदि कविताएँ इस संग्रह की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

इससे नवीन धारा का स्वागत करने वालों के हृदय में आत्मविश्वास की भावना भर गई। वास्तव में इस पहली रचना ने ही निराला जी को हिन्दी-साहित्य में चमका दिया।

परिमल—प्रारम्भिक कविताओं के संकलन 'अनामिका' के पश्चात् 'परिमल' ने प्रकाशित होते ही हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में क्रान्ति कर दी। 'परिमल' का कवि प्रेम और सौंदर्य का कवि है, रामकृष्ण मिशन ने 'परिमल' के कवि को अद्वैतवाद दिया और साथ ही यह भी सिखाया कि मानवमात्र की सेवा वेदान्त के प्रतिकूल नहीं है। इसमें कवि ने अपनी स्वर्गीय प्रियतमा के विरह में विरह-गीत भी गाये हैं। फिर भी वह वेदना और वियोग का कवि नहीं है। वह देखता है कि कली अपने लावण्य से अखिल भूतल को मुग्ध कर लेती है। और भ्रमर का गीत उसकी गन्ध में मिल कर एक हो जाता है। दूसरे स्थान पर वह कहता है—

देख पुष्प द्वार
परिमल-मधु-लुब्ध मधुप करता गुञ्जार

'निराला जी ने प्रणय-व्यापार की परिणति सर्वत्र ऐसे आनन्द में की है, जिसे ब्रह्मानंद-सहोदर कहा जा सकता है। 'परिमल' की सर्वप्रथम, और निराला जी की सबसे प्रमुख सौंदर्य-सम्बन्धी रचना 'जुही की कली' में—

नम्रमुखी हँसी खिली खेल रंग प्यारे संग

में भी इसी परिणति का भाव है।

'जुही की कली' की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

विजन-वन-वल्लरी पर

स्वाभाविक प्रवाह में ढालने के लिए विद्रोह कर दिया। उनकी इस विद्रोह-भावना का सर्वप्रथम परिचय उनकी 'अनामिका' नामक रचना के द्वारा मिला। अतुकान्त स्वच्छन्द छन्द में लिखी गई इस रचना के भाषा, भाव, विषय, शैली आदि सभी कुछ नवीन थे। इन छन्दों में ऐसे संगीत का, जिसे उन्होने पाश्चात्य संगीत के स्वर और ताल से प्रभावित बंग-काव्य से प्राप्त किया था, सफल आयोजन हुआ है। इस प्रकार निराला जी ने उन्मुक्त छन्द और संगीतपरता ये दोनों ही तत्त्व हिन्दी-काव्य में प्रतिष्ठित कर दिये। विराट् सत्ता और शाश्वत ज्योति के रूप में रहस्यवाद का प्रकटीकरण उनकी सबसे बडी विशेषता है। मुक्त छन्दों में शक्ति का अनुपम ऊर्जस्वित प्रवाह जो उनके वीर-काव्य में बाँध तोड़कर उफन पड़ा है, उनके काव्य की दूसरी विशेषता है। शौर्यमय भावभूमि के प्रतिष्ठापक निराला जी के कवित्व में उग्रता, दर्प, त्याग, समर्पण, प्राचीन शौर्य के प्रति समादर आदि के उदात्त भाव व्यक्त हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त करुणा और सहानुभूति भी उनके काव्य की अन्यतम विशेषता है। इनकी करुणा छायावादी विमोहकता को त्याग कर तथा दुःख-सुख की पन्त-वादी दार्शनिकता से तटस्थ होकर पीड़ा की वस्तुगत स्थूल गहराई को व्यक्त करती है। मार्मिक व्यंग्य-चित्र उनके काव्य की एक और विशेषता है। ऐसे तीखे व्यंग्य शायद ही किसी अन्य हिन्दी-कवि के यहाँ मिल सकें।

निराला जी के काव्य को गद्य और पद्य इन दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं। यहाँ सर्वप्रथम उनके पद्य-काव्य का विवेचन किया जाता है। उनके काव्य में काल-क्रम से अनामिका का सर्वप्रथम स्थान है।

अनामिका—यह उनका सर्वप्रथम काव्य-संग्रह है। इसमें स्वच्छन्द छन्दों की पूर्णता की ओर ही उनका अधिक झुकाव प्रतीत होता है, अन्य बातों की ओर कम। उनकी इस स्वच्छन्द छन्द-योजना

'परिमल' के बाद की रचनाओं में ऐसे मांसल चित्र बहुत कम मिलते हैं। सौन्दर्य से अधिक प्रेम की परिणति कवि का ध्यान आकर्षित करती है।

प्रकृति के अनुपम हृदयहारी चित्र 'परिमल' की दूसरी विशेषता है। वर्षा और बादलों के सम्बन्ध में जैसे प्रभावशाली चित्र निराला जी ने दिये हैं, वैसे अन्य शायद ही कोई कवि दे सका हो—

झूम झूम मृदु गरज गरज घनघोर।

आदि बादल-राग के प्रथम पद में उमड़ते हुए नदी-नदों और दलदलों का वर्णन किया गया है। दूसरे गीत में विप्लव के नव जलधर तथा कली की श्री बिखेर कर उसे मर्दित कर डालने वाले उद्दण्ड बादल का चित्र निम्न रूप में अंकित हुआ है—

ऐ अट्ट पर छूट टूट पड़ने वाले उन्माद;
विश्व-विभव को लूट लूट लड़ने वाले अपवाद।
श्री बिखेर, मुख फेर, कली के निष्ठुर पीड़न,
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचण्ड,
आतंक जमाने वाले,
कम्पित जंगम,—नीड़-विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले।

तीसरी कविता में बादल को 'समुद्र का आँसू', 'पृथ्वी के खिन्न दिवस का दाह', सूर्य का चुना हुआ 'फूल' आदि अनेक प्रकार से सम्बोधित किया गया है। चौथी और पाँचवीं कविता में बादल को चंचल बालक के रूप में चित्रित किया गया है। छठी एक अत्यन्त लोकप्रिय कविता है। अपनी क्रान्तिकारी व्यञ्जना और उदात्त स्वर-सौन्दर्य में वह अनुपम है। समीर के सागर पर बादल ऐसे तैरते हैं जैसे अस्थिर सुख पर दुःख की छाया तैर रही हो। ग्रीष्म से विदग्ध संसार के हृदय पर

सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह स्वप्न मग्न—
अमल-कोमल-तनु-तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल, पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।

यह 'जुही की कली' वास्तव में निराला जी की एक परम प्रौढ़ रचना है। 'परिमल' में 'जुही की कली' के पश्चात् 'जागृति में सुषुप्ति' शीर्षक दूसरी सौन्दर्य-सम्बन्धी कविता है। इसमें भी एक सौन्दर्य-चित्र अंकित है, किन्तु यहाँ कई वर्षों बाद की एक नई दुनिया का चित्र है। यहाँ पर निर्दोष 'जुही की कली' के स्थान पर ऐसी नागरी प्रिया है, जिसके मौन अधरों पर रसासव-पान के चिह्न विद्यमान हैं। वासन्ती निशा के स्थान पर उषा की ललिमा है, जिसमें उसकी लाजमयी चेतना विलीन हो जाती है। कवि अब अपनी कविताओं में राका-रजनी की ज्योत्स्ना के स्थान पर उषःकालीन लालिमा के रंग भरने लगा है। पंचवटी के प्रसङ्ग में भी सौन्दर्य सजीव रूप में अंकित हुआ है। शूर्पणखा स्वयं अपने सौन्दर्य पर मुग्ध हो रही है। उसके लहराते हुए घने काले कुसुम-कलित बाल-जाल के समक्ष तो तारक-प्रतिबिम्बित गोदावरी के जल की लहरें भी तुच्छ प्रतीत होती हैं। योजनगन्ध पुष्प जैसा मनोहर मुखमण्डल दूर-दूर से मधुप-निकरों को आकर्षित कर रहा है और—

देख यह कपोत-कंठ, बाहुवल्ली कर-सरोज।
....
गति मन्द मन्द, छूट जाता धैर्य ऋषि-मुनियों का,
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है।

वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

महादेवी वर्मा ने इस कविता के सम्बन्ध में लिखा है—"राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गान स्थूल धरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियों में जो मार्मिकता ला सके हैं वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है। सामाजिक आधार पर 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी' में तपःपूत वैधव्य का जो चित्र है वह अपनी दिव्य लौकिकता में अकेला है।"

इसी प्रकार 'भिक्षुक' कविता में भी दीन-हीन भिक्षु के प्रति उनका हृदय दयार्द्र हो उठा। 'परिमल' और 'अनामिका' में ऐसे अनेक करुण दृश्य स्थान-स्थान पर दिखाई देते हैं। 'हमें जाना है जग के पार' आदि गीत में छायावाद की पलायनवादी प्रवृत्ति लक्षित होती है।

प्रायः प्रत्येक रोमांटिक कवि ने ऐसे कल्पना-लोक में विहार किया है, जहाँ नयनों से नयन मिले रहते हैं, प्रकाश के सहस्रों उत्स प्रवाहित रहते हैं, रस का तो सागर ही हिलोरें लेता रहता है। वास्तविक जगत् में तो कामना के कुसुमों को कीड़ा कुतर डालता है, किन्तु कवि के स्वप्नों के सुनहरे संसार में अलौकिक सौंदर्य और सुषमा की ज्योत्स्ना सदा छिटकी रहती है। कवि कहता है कि—

जहाँ नयनों से नयन मिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नव रसधार
वहीं जाना इस जग के पार

'प्रपात के प्रति' कविता में रविबाबू के 'निर्झरेर स्वप्न भङ्ग' की झलक है। 'परिमल' की रहस्यवादी कविताओं पर रविबाबू की अपेक्षा स्वामी विवेकानन्द जी का अधिक प्रभाव है। इष्टदेव की मातृरूप

विप्लव का प्रतीक यही बादल है। उसके भारी गर्जन से पृथ्वी के हृदय में सोते हुए अंकुर फूट निकलते हैं। उसकी मूसलाधार वर्षा से पृथ्वी काँप उठती है, और वज्र-हुंकार सुनकर संसार हृदय थाम लेता है। बादल का वज्र-प्रहार बड़े-बड़े पहाड़ों पर होता है किन्तु छोटे पौधे हाथ हिला-हिला कर उसे बुलाते हैं। उसकी विनाश-लीला से उन्हें भय नहीं होता, क्योंकि विप्लव-रव से छोटे ही शोभा पाते हैं। कवि शोषक पूँजीपति के हृदय में उत्पन्न हुए विप्लव-जन्य आतंक और उसी विप्लव के कारण शोषित श्रमिक किसानों के हृदयोल्लास को किस प्रकार प्रकट कर रहा है—

रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना-अंग से लिपटे भी
आतङ्क-अङ्क पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल!
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार!

इस संग्रह की 'विधवा' शीर्षक कविता में तो करुणा मानो मूर्तिमती होकर व्यक्त हुई है। एक चित्र देखिए—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी

करुणा का प्रवाह उमड़ रहा है। कहीं हिन्दुत्व की राष्ट्रीय भावनाएँ मुखरित हो रही हैं, तो कहीं इतिहास की झाँकियों की झलक मिल रही है। तुकान्त, अतुकान्त और मुक्तक तीनों प्रकार के गीत इसमें आये हैं।

गीतिका—इसमें भी ऐसे ही गीत हैं। 'अनामिका', 'गीतिका' और 'परिमल' इन तीनों संकलनों के पश्चात् निराला जी के कुछ नवीन संग्रह भी प्रकाशित हुए।

कुकुरमुत्ता—यह एक व्यङ्ग्य-प्रधान रचना है जिसमें गुलाब की अपेक्षा कुकुरमुत्ते को श्रेष्ठ ठहराया गया है। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है—

अबे सुन बे गुलाब
भूल मत गर पाई खुश्बू, रंगो आब

निराला जी की ऐसी रचनाओं में तीखी चुटकी, गम्भीर विनोद, तीव्र व्यङ्ग्य और मधुर हास्य अन्तर्निहित हैं।

अणिमा—इसके गीतों के अनेक स्थलों में रहस्यवाद की झलक है।

वह अँधेरा देख हृदय हुआ है मवेश।

आदि में उनका उत्साह जागृत हुआ है तो—

मैं अकेला मैं अकेला,
आ रही मेरे गमन की सांध्य वेला।

में उनकी आंतरिक वेदना व्यक्त हो रही है। इसकी कुछ कविताओं में नये और पुराने कवियों के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ भी समर्पित की गई हैं। सन्त-कवि रैदास को ज्ञान-गंगा में स्नान कर पावनतम रूप में प्रकट हुआ चर्मकार कहकर प्रणाम किया गया है। अनेक वर्षों तक निराला जी के विरोध में रहने वाले शुक्ल जी को 'समालोचना की अमावस्या में उदित होने वाला दिव्य कलाधर' कहकर सम्मानित किया है। प्रसाद जी का अग्रज के रूप में सादर अभिनन्दन किया गया है। महादेवी वर्मा और विजयलक्ष्मी पण्डित आदि के प्रति भी कवि

कल्पना को स्वामी जी ने ही लोकप्रिय बनाया। कवि मातृरूप में ही इष्टदेव को स्वीकार करता है। दार्शनिकता की प्रधानता रहते हुए भी निराला जी की कविताओं में विद्रोह का स्वर सर्वोच्च है। विश्व की विषमता, शोषण एवं उत्पीड़न से पीड़ित कवि का हृदय शक्ति का आह्वान करते हुए कहता है—

एक बार बस और नाच तू श्यामा !
सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार ?
कर मेखला मुण्ड-मालाओं से बन मन-अभिरामा,—

इतिहास से वे युग ढूँढ कर निकाले जाते हैं जिससे कवि को प्रेरणा प्राप्त होती है। 'दिल्ली' और 'खण्डहर' कविताओं में विगत वैभव के प्रति सहानुभूति प्रकट की गई है। गुरु गोविन्दसिंह पर तथा 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविताओं में हिन्दू-पुनर्जागरण की भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। जयसिंह के नाम लिखे हुए 'शिवाजी के पत्र' में तो कवि की यह हिन्दूत्व-भावना अत्युच्च स्वर से मुखरित हुई है। प्रत्येक भारतीय के लिए यह कविता अवश्य पठनीय है।

'यमुना' में प्राचीन संस्कृति के प्रति कवि की अनुरक्ति व्यक्त हुई है। 'पंचवटी-प्रसङ्ग' में राम-कथा को श्रद्धा सहित गाया गया है।

मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे काफी है।

लक्ष्मण की इस उक्ति में निराला जी का भक्तिभाव स्पष्ट रूप में प्रकट हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'परिमल' का कवि विरक्त दार्शनिक होते हुए भी निराशवादी नहीं है। क्योंकि प्रभु की करुणा की कलित-कोर उसके हृदय को सदा पुलकित किये रहती है। 'परिमल' में कुछ कविताएँ दार्शनिकता लिये हुए हैं। कुछ कविताओं में प्रकृति के हृदय-हारी चित्र अंकित हुए हैं। कहीं प्रणय के गीत गाये गये हैं और कहीं

कैसे हम बच पाएँ निहत्थे, बहते गए हमारे जत्थे,
राह देखते हैं भरमाए, न आए वीर जवाहरलाल।

राम की शक्ति-पूजा—यह 'तुलसीदास' से मिलती-जुलती कविता है। इस जैसी नाटकीयता निराला जी के काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है, क्योंकि इसमें जीवन की अनुभूति, निराशा एवं पराजय को नाटकीय रूप में उपस्थित किया गया है। आकाश और समुद्र के सम्मिलित गर्जन में राम का व्यक्तित्व जैसे खो जाता है। यह क्रियाशील तमोगुण जीवन की परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें परास्त करने के लिए राम सदा साधनों की खोज करते रहे हैं। निराला जी के राम परब्रह्म न होकर मानव ही हैं। वे अधीर हो जाते हैं और शक्ति की उपासना में लग जाते हैं। अन्तिम समय में महाशक्ति स्वयं पूजा का अंतिम पुष्प उठा ले गई; इस पर राम ने यह सोचकर कि माता मुझे भी कमल-नयन कहा करती थी, तत्काल अपने दक्षिण नेत्र को अर्पित करने को उद्यत हो गये। इस पर देवी ने प्रकट होकर—

साधु-साधु, साधक, धीर, धर्म-धन धन्य राम
कह, लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।

राम ने शक्ति को प्रणाम किया। वह जय की भविष्यवाणी कर उनके वदन में ही लीन हो गई।

इस प्रकार राम के रूप में कवि ने जीवन की परिस्थितियों को एक बार फिर चुनौती दी थी। इसके वर्णन बड़े सजीव हैं। परिमित पदों में रेखाचित्र खींचने में कवि की अद्‌भुत क्षमता प्रकट हुई है। प्रकाश और अंधकार का ऐसा सजीव सम्मिश्रण निराला जी के काव्य में अन्यत्र कहीं नहीं है। इसकी प्रतीक-व्यञ्जना भी अद्‌भुत है। रावण समस्त तमोगुणी विघ्न-बाधाओं का प्रतिनिधि-मात्र प्रतीत होता है। इस अनन्त तमोगुण में राम के अमोघ बाण निष्प्रभ हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में भी मनुष्य का मन हार नहीं मान बैठता। वह परिस्थितियों से

का सम्मान कुछ कविताओं में व्यक्त हुआ है। कुछ कविताओं में किसी दृश्य का वर्णन करके 'अस्तु' लिख दिया है।

बेला—इस संग्रह में कवि ने कुछ नये प्रयोग किये हैं; हिन्दी में ग़ज़लें लिखी गई हैं। इन ग़ज़लों में कुछ उक्तियाँ बड़ी ही मार्मिक बन पड़ी हैं। जैसे कि—

खुला भेद विजयी कहाये हुए जो, लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।

एक ग़ज़ल में ग़ज़ल वालों को चुनौती देते हुए कहते हैं कि—

बिगड़ कर बनते और बन कर बिगड़ते एक युग बीता
परी और शमा रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

अब कवि को जन-शक्ति में विश्वास हो गया है। वह शोषित मानव को क्रान्ति के लिए अग्रसर करते हुए ललकारता है—

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ-आओ।
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अन्धेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।
भेद कुल खुल जाय वह, सूरत हमारे दिल में है।
देश को मिल जाय जो पूँजी तुम्हारे मिल में है।

सन् '४२ के आन्दोलन में राष्ट्रीय नेताओं के गिरफ़्तार कर लिये जाने पर उन्होंने निम्नलिखित कजली लिखी थी :—

काले-काले बादल छाये, न आए वीर जवाहरलाल।
....
महँगाई की बाढ़ बढ़ आई, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई,
भूखे नंगे खड़े शरमाए, न आए वीर जवाहरलाल।

परमोपासक हैं । गोस्वामी तुलसीदास हिन्दू-संस्कृति के संरक्षकों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं । इधर एक हज़ार वर्षों में तो गोस्वामी जी के समान आर्य-संस्कृति का संरक्षक शायद ही दूसरा कोई हुआ हो। फलतः निराला जी की गोस्वामी जी पर अत्यधिक श्रद्धा है, यहाँ तक कि गोस्वामी जी प्रायः चित्रकूट में रहा करते थे इसलिए निराला जी भी चित्रकूट में प्रायः रमा करते हैं । इसी भक्ति-भाव से प्रेरित होकर निराला जी ने 'तुलसीदास' नामक एक खण्ड-काव्य की रचना की है। इसके आरम्भ में मुग़लदलरूपी मेघमाला से आच्छन्न दुर्दिन में भारतीय संस्कृति के सूर्य का अंतर्हित होना अंकित किया गया है, तत्पश्चात् अकबर की शासन-व्यवस्थारूपी अज्ञानान्धकारावृत शीतल और सुखद रात्रि का चित्र अंकित किया गया है । इसके पश्चात् कवि ने अपने चरितनायक गोस्वामी जी के ग्राम राजापुर और उनकी बाल्यावस्था की झलक दिखाई है। तदनन्तर गोस्वामी जी का रत्नावली से विवाह वर्णित है ।

विवाह के पश्चात् वे एक बार चित्रकूट जाते हैं, वहाँ उन्हें भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान के लिए प्राकृतिक प्रेरणा प्राप्त होती है । वह अपनी प्रियतमा के प्रेम-पाश को तोड़ कर विरक्त होकर सांस्कृतिक उन्नति की ओर अग्रसर होना चाहते हैं। कुछ देर कवि ऐसे ही भव्य विचारों में मग्न रहता है, किन्तु अन्त में फिर मोह से आवृत हो संसार की ओर प्रवृत्त हो जाता है। उधर एक दिन रत्नावली का भाई आया और उसे मायके लिवा ले गया । गोस्वामी जी उसे भेजना नहीं चाहते थे, अतः वह उनकी अनुपस्थिति में चुपचाप ही उसे ले गया। गोस्वामी जी भी उसके पीछे-पीछे चल पड़े। जँवाई को घर आया देख ससुराल वालों ने उनकी बड़ी आवभगत की, किन्तु रात्रि में रत्नावली ने गोस्वामी जी को बुरी तरह फटकारते हुए कहा कि आप इस तरह बिना बुलाये यहाँ क्यों आ गये । इस मेरे हाड़-माँस के शरीर से इतनी ममता क्यों है,

संघर्ष करने के लिए पुनः सचेष्ट होता है। 'राम की शक्ति-पूजा' का यह दिव्य आशावादी संदेश है।

सरोज-स्मृति—यह कवि की पुत्री 'सरोज' के निधन पर लिखा गया एक शोक-गीत है। इसमें निराला जी की आर्थिक विवशता का बड़ा ही करुण चित्र अंकित हुआ है। पहले तो वे—

खण्डित करने को भाग्य अंक, देखा भविष्य के प्रति अशंक।

कहकर भाग्यवाद को चुनौती देते हुए अत्यन्त उत्साही वीर के रूप में व्यक्त होते हैं। पर भविष्य के प्रति अशंक होकर देखते हुए भी भाग्य के अंक को खण्डित करने में असमर्थ कवि का हृदय कराहता हुआ कह उठता है—

दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो न कही।

इसमें बार-बार यह भाव व्यक्त हुआ है—

कुछ भी तेरे हित कर न सका।

इस प्रकार सरोज की जीवन-गाथा कवि की अपनी दुःख-कथा बन गई है। यथार्थ जीवन की यह एक नई और कटु अनुभूति कवि ने हिन्दी-जगत् को दी है। यहाँ वह वेदना का गायक बन गया है, पर उसकी यह वेदना अन्य छायावादी कवियों के समान भावुकता का खिलवाड़ नहीं। इसमें एक ऐसी तीखी अनुभूति सम्पृक्त है, जिससे सहृदय के अन्तरतम में संवेदना और करुणा की पावनधारा लहरा उठती है। प्रारम्भिक जीवन में पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा लौटाई हुई उत्कृष्टतम रचनाओं से निराशा, अर्थोपार्जन न कर सकने के कारण निराशा और मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई पुत्री की परिचर्या न कर पाने से जो निराशा उत्पन्न हुई उसी से कवि का हृदय इतना क्षुब्ध हो उठा कि अन्त में विक्षिप्त होकर ही रहा।

तुलसीदास—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' हिन्दू-संस्कृति के

कही थी। चरित्र-चित्रण के साथ उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ध्यान भी बराबर रखा है। मध्यकालीन समाज की वास्तविक समस्या को उन्होंने भली भाँति पहचान लिया था। मुग़ल-आक्रमण से पहले ही जातीय जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। विलास के प्रवाह में बहते हुए तृष्णोद्धत क्षत्रियगण राष्ट्ररक्षण में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हो चुके थे। ऐसे ही वातावरण में गोस्वामी जी का आविर्भाव होता है। उसके अनुकूल और विरोध में भी उनका व्यक्तित्व विकसित होता जाता है। विलासिता के वातावरण ने उन्हें भी मोहित कर लिया, रत्नावली में उनकी आसक्ति वैयक्तिक कामुकता न होकर समाज-व्यापी विलासिता का ही प्रतीक है। रत्नावली के इन शब्दों में—

धिक! धाये तुम यों अनाहूत
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत
राम के नहीं, काम के सूत कहलाये।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ—हाड़, चाम।
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आये।

तुलसीदास को नहीं प्रत्युत साहित्य और संस्कृति की समस्त रीतिकालीन परम्परा को ही धिक्कार गया है। उसके योगिनी रूप में मध्यकालीन रमणी का नायिका-भेद वाला रूप जल कर भस्म हो गया। 'तुलसीदास' के सम्बन्ध में डाक्टर रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि कविता के आदि और अंत में जैसी सेटिंग है वैसा ही उदात्त चरित्र-चित्रण भी। कथोपकथन में वैसा ही ओज, गुण और स्वाभाविकता है। छन्द का प्रवाह लगभग छः सौ पंक्तियों में पाठक के मन को कविता के साधारण धरातल से बराबर ऊँचा उठाये रखता है। भारतीय स्थापत्य-कला में अलंकरण के लिए सुन्दर मूर्तियों के समान उपमाओं और रूपकों की छटा देखते ही बनती है। जितनी ही वह सुन्दर

आदि। अपनी प्रियतमा के इन प्रेरक वचनों को सुनकर गोस्वामी जी की सुप्त अन्तर्चेतना जाग्रत हो उठी, रात्रि का मोहक अन्धकार हट गया और ज्ञान-भानु की किरणें जगमगाने लगीं। यह है 'तुलसीदास' का संक्षिप्त कथानक।

इस काव्य की भाषा अत्यन्त अलंकृत लाक्षणिक और मूर्त्तिमत्ता लिये हुए है। आरम्भ से अन्त तक इसमें विशेष वक्रता और सजीवता के दर्शन होते हैं। कवि ने छायावाद और रहस्यवाद की प्रतीक-पद्धति का पर्याप्त प्रयोग किया है। निराला जी ने अपनी भावनाओं को इस काव्य में सचमुच ही मूर्त रूप प्रदान किया है, इसमें कुछ संदेह नहीं। मानव-हृदय के आन्तरिक व्यापारों का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण इस काव्य में हुआ है वह तो दर्शनीय है ही। इतना सब-कुछ होने पर भी हम यह तो अवश्य कहेंगे कि भाषा की अत्यधिक लाक्षणिकता व अभिव्यञ्जनात्मकता ने काव्य को सर्वसाधारण की पहुँच से ऊपर उठाकर केवल काव्य-रसिक साहित्यिकों के ही उपयोग की वस्तु बना दिया है। अकबर के शासन को आरम्भ में चन्द्र-रूप कहने में भी आंशिक सत्य है। कुल मिलाकर 'तुलसीदास' छायावाद की प्रतीक-पद्धति पर लिखा हुआ जीवन-वृत्त-सम्बन्धी यह छोटा-सा खण्डकाव्य है, जिसमें निराला जी की निराली प्रतिभा का पर्याप्त प्रकाश हुआ है। कमनीय कल्पना-कुशलता ने काव्य के कलेवर को चार चाँद लगा दिये हैं। इन सब बातों को देखते हुए कह सकते हैं कि निराला जी के 'तुलसीदास' का भी हिन्दी-साहित्य में अपना एक स्थान सुरक्षित है, इसमें कुछ संदेह नहीं। कविता के आरम्भ में भारत का जो सांस्कृतिक सूर्य अस्त हो गया था, उसका भी पुनः उदय हुआ। और रत्नावली ही प्राची दिगंत-उर में पुष्कल रवि-रेखा बन गई। इस कविता में निराला जी ने अभिनव चरित्र-चित्रण एवं नाटकीय घटना-संगठन का अनुपम कौशल दिखाया है। इससे पूर्व किसी भी छायावादी कवि ने ऐसी कथा न

विविधता के रहते हुए भी उनकी प्रत्येक रचना में भारतीय संस्कृति या हिन्दुत्व के प्रति असीम आस्था व्यक्त हो रही है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इन सब बातों को देखते हुए स्पष्ट सिद्ध होता है कि कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, निबन्धकार, रेखा-चित्रकार एवं समालोचक के रूप में निराला जी ने हिन्दी-साहित्य-भण्डार को अनुपम रचना-रत्नों से समृद्ध किया है। निराला जी की प्रतिभा उनके पौरुष को प्रकट करती है। वैविध्य और वैषम्य का उनकी कला में सुन्दर समन्वय हुआ है। तुकान्त और अतुकान्त दोनों रूपों में लिखी हुई उनकी स्वच्छन्द छन्दमय रचनाओं में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का अपूर्व सामञ्जस्य है। मुक्तक गीत और प्रबन्ध दोनों रूपों में उनकी कला की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। जिस प्रकार प्रसाद जी ने 'कामायनी' के द्वारा प्रबन्ध-काव्य के रूप में छायावाद की प्रतिष्ठा की, उसी प्रकार निराला जी ने 'तुलसीदास' नामक खण्डकाव्य में छायावाद की शैली को सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित किया है। उनके शब्दचित्र बेजोड़ हैं। उनके रहस्यवाद में स्वाभाविकता की अपेक्षा साम्प्रदायिकता की अधिकता के कारण अस्पष्टता, जटिलता एवं दुरूहता आ गई है। किन्तु भाव, भाषा, छन्द आदि सभी क्षेत्रों में अपना नवीन मार्ग-निर्माण करने वाले नवयुग के प्रवर्त्तक इस कवि की रचना में ऐसी अस्पष्टता अपरिहार्य है। निराला जी ने हिन्दी को जो-कुछ दिया है वह वास्तव में अनुपम है। ऐसे महाप्राण कलाकार का आर्थिक संकट की चक्की में पिस कर विक्षिप्तावस्था तक पहुँच जाना यह सिद्ध करता है कि हिन्दी-जगत् ने अभी अपने कलाकारों का सम्मान करना नहीं सीखा। महादेवी जी ने इस कलाकार को अपनी संस्था 'साहित्यकार-संसद्' में आश्रय देकर अनुकरणीय कार्य किया था।

है उतनी सार्थक भी। रत्नावली के केशजाल को मेघमाला बनाकर तुलसीदास के मन को मयूर बनाना निराला जी का ही काम था। आरम्भ के वन्द में वर्णित सांस्कृतिक सूर्यास्त के चित्रण से अन्तिम वन्द में की पुष्कल रवि-रेखा की झाँकी तक सम्पूर्ण कविता एक विशाल रूपक के सूत्र में बँधी हुई है। ऐसा निर्माण-सौन्दर्य नई हिन्दी-कविता के लिए अद्‌भुत था। निस्संदेह छायावादी कला को अत्यन्त पुष्ट और विकसित रूप में दिखाया गया है।

निराला जी का गद्य-साहित्य—

कविताओं के अतिरिक्त निराला जी ने गद्य भी खूब लिखा है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध और रेखा-चित्र सभी कुछ उन्होंने दिये हैं। 'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती' और 'निरुपमा' उनके उत्कृष्ट उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति बड़े तीव्र व्यङ्ग्य हैं। प्रायः सभी के नायक उच्च-शिक्षाप्राप्त, किन्तु बेकार तथा सामाजिक बन्धनों के प्रति विद्रोहशील हैं।

'अप्सरा' के राजकुमार और 'निरुपमा' के कृष्णकुमार में बहुत-कुछ निराला जी का अपना जीवन अंकित हुआ है। 'प्रभावती' एक ऐतिहासिक ढंग का उपन्यास है। इन सभी उपन्यासों में निराला जी की अपनी अनोखी कला स्पष्ट लक्षित होती है। निराला जी के निबन्धों में भी कहीं-कहीं केवल तीखे व्यङ्ग्य ही नहीं, ज़ोरदार चोटें भी हैं। 'पल्लव' की आलोचना करते हुए उन्होंने 'पन्त जी और पल्लव' नामक निबन्ध में पन्त जी को बुरी तरह आड़े-हाथों लिया है। 'अधिकार और समस्या' में तथा 'वर्तमान धर्म' में उन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रबल समर्थन किया है। 'शून्य और शक्ति' में सृष्टि के आदि और अन्त में शून्य की सत्ता को सिद्ध किया गया है। 'चर्खा' नामक निबन्ध में रवीन्द्र-नाथ ठाकुर के द्वारा चर्खे के समर्थन की हँसी उड़ाई गई है।

इस प्रकार उनके निबन्धों के भी अनेक विषय हैं। विषयों की इस

पिता को अपने सबसे छोटे पुत्र का नाम इतना कवितामय रखने का क्या कारण था ?" पंत जी की नवीनता की यह रुचि उनके द्वारा स्थापित नवीन साहित्यिक संस्था, 'लोकायतन' के पदाधिकारियों के नामकरण में भी स्पष्ट लक्षित होती है। उन्होंने सभापति का नाम 'लोकपति' और उपसभापति का नाम 'लोकव्रती' रखा। मन्त्री को 'लोकसखा' और कोषाध्यक्ष को 'निधिपति' का नवीन नाम दिया। बात तो यह है कि पंत जी प्रकृति से ही कलाप्रिय प्राणी हैं। सुरुचि-संस्कार और कलात्मकता के वे मूर्त्त प्रतीक हैं। जन-संमर्द से दूर रहकर मूक भाव से साहित्य-साधना करते जाना ही उनके जीवन का ध्येय है। इसी लिए कुछ आलोचकों ने उन्हें भीरु प्रकृति का कलाकार तक कह दिया है। प्रकृति की परम रमणीय गोद में पलने और पनपने के कारण पंत जी की नस-नस में सौंदर्योपासना समाई हुई है। पंत जी वास्तव में एक कमनीय कल्पनाशील कुशल कवि एवं कलाकार हैं। प्रसाद जी और निराला जी की भाँति पंत जी ने भी गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि सभी कुछ लिखा है, पर उनकी लोकप्रियता कविता के कारण ही है।

पंत जी की सबसे बड़ी विशेषता उनकी कोमलकान्त पदावली है। पंत जी ने खड़ीबोली को इतनी मंजुलता, पेशलता और परिष्कृति दी कि उसमें अनायास ही ब्रजभाषा के माधुर्य का संचार हो गया और वह नवीन अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो गई। पंत जी की परिष्कृत प्रतिभा द्वारा प्रदत्त कोमलकान्त पदावली के अभाव में खड़ीबोली की कविता का सौंदर्य कदापि नहीं निखर सकता था। निर्बल अनुभूति, मृदुल व्यक्तित्व और सुकोमल-प्रतिभा-सम्पन्न उनके काव्य में निराला जी जैसी ओजस्विता और सशक्तता तो नहीं है, पर अलौकिक कल्पना तथा अनुपम कलात्मकतापूर्ण अपनी रचना के कारण वे ही छायावाद के प्रमुख प्रतिनिधि कलाकार कहे जाते हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त

जन्म संवत् १९५७

पन्त जी का जन्म संवत् १९५७ में अलमोड़ा के पास कौसानी नामक ग्राम में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा पहले गाँव की पाठशाला में और फिर गवर्नमेन्ट हाई स्कूल अलमोड़ा में हुई। फिर काशी से मैट्रिक पास कर प्रयाग सैन्ट्रल कालेज में भर्ती हो गये। संवत् १९७९ में आपने असहयोग-आन्दोलन में कालिज छोड़कर साहित्य-सेवा का व्रत ले लिया। आपने हिन्दी, संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी के साहित्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है। दर्शन और उपनिषदों की ओर भी आपकी आरम्भ से ही रुचि रही है। आप स्वभावतः स्वतन्त्र प्रकृति के कलाकार हैं। पन्त जी प्रत्येक कार्य में अपनी सूझ-बूझ का परिचय देते हैं। पुरानी और प्रचलित वस्तुओं को उनका मन ग्रहण नहीं करता, और यदि करता भी है तो उसमें कुछ-न-कुछ नवीनता अवश्य ला देता है। यहाँ तक कि उन्होंने अपने वास्तविक नाम को भी पुराना समझ कर छोड़ दिया। इनका वास्तविक नाम 'गुसाईंदत्त' था, और इनके शेष तीन भाइयों के नाम भी हरदत्त, रघुवरदत्त, और देवीदत्त हैं। हरदत्त पंत के पास उनके मित्र सुमित्रानन्दनसहाय के पत्र आया करते थे। बस गुसाईंदत्त जी को यह नाम पसन्द आ गया और अपने को उन्होंने 'सुमित्रानन्दन' कहना शुरू कर दिया। यह है इनके साहित्यिक नाम का रहस्य। इस रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण ही राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि "हरदत्त, रघुवरदत्त, देवदत्त जैसे नामों के बाद

का संचार करने वाले अनुपम कलाकार हैं। इनकी रचनाएँ निम्न-लिखित हैं—

(१) काव्य—वीणा, ग्रन्थि, गुञ्जन, पल्लव, पल्लविनी, युगान्त, युग-वाणी, ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, मधुज्वाल, युगपथ, और उत्तरा।

(२) नाटक—ज्योत्स्ना।

(३) उपन्यास—हार।

(४) कहानी-संग्रह—पाँच कहानियाँ।

(५) अनुवाद—उमरखैयाम की रुबाइयों का हिन्दी अनुवाद।

पंत जी की इन रचनाओं को विकास-क्रम की दृष्टि से निम्न तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—(१) छायावादी सौंदर्य-युग, (२) प्रगति-युग (३) आध्यात्मिक युग। 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'पल्लविनी', 'गुञ्जन', 'ज्योत्स्ना', और 'युगांत' छायावादी सौंदर्य-युग की रचनाएँ हैं। 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' को प्रगति-युग की कृतियाँ कह सकते हैं। 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्णकिरण', 'युगपथ' और 'उत्तरा' अध्यात्मवादी युग की रचनाएँ हैं। अब इन पर क्रमशः विचार किया जाता है।

छायावादी काव्य

सन् १९१५ से १९३५ तक की रचनाएँ छायावाद-युग की हैं। इन रचनाओं में सर्वप्रथम 'वीणा' का स्थान है। अतः सबसे पहले 'वीणा' ही को ले लें।

वीणा—पंत जी की प्रारम्भिक रचनाएँ इस संकलन में संगृहीत की गई हैं। बादल, इन्द्रधनुष, झरने, सर, सरिता, उषा और सन्ध्या, ओस-कण और नक्षत्र आदि प्रकृति के विभिन्न पदार्थों को लेकर लिखी गई पंत जी की प्रयोगकालीन कविताओं को इसमें प्रकाशित किया गया है। प्रकृति के प्रति अनुराग के अतिरिक्त बालसुलभ आदर्श भावनाएँ भी इसकी अनेक कविताओं में मुखरित हुई हैं। स्वामी विवेकानन्द जी से प्रभावित होकर इष्टदेव की मातृरूप में कल्पना कर कवि

उनके शब्दों में लय का प्रभावपूर्ण संगीत और माधुर्य अनुपम है। बात तो यह है कि जिस युग में पंत, निराला आदि छायावादी कवियों ने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय हिन्दी में नूतन काव्य-प्रवृत्तियों को वहन करने के योग्य उपयुक्त पदावली और छन्दों का खड़ीबोली में अभाव था। पंत जी ने इन दोनों ही क्षेत्रों में अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया है। जैसा कि पहले कहा गया है निराला जी ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया और उनका मुक्तछन्द तो अभिनव अभिव्यक्ति के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन सिद्ध हुआ। किन्तु जिस सूक्ष्मता से पंत जी ने छंदों का संशोधन किया, तथा आवश्यकतानुसार बंगला व इंग्लिश के छन्दों का संमिश्रण कर हिन्दी-काव्य को जो रमणीय रूप प्रदान किया उसका महत्त्व सदा बना रहेगा।

उपर्युक्त पदावली के प्रयोग में भी पंत जी की परिष्कृत पारखी प्रतिभा ने कमाल कर दिखाया है। उन्होंने संस्कृत के अप्रयुक्त शब्दों को अपने अभिव्यंजक पदों में इस प्रकार नव-जीवन प्रदान किया कि वे हिन्दी-भाषा के शृंगार बन गये। अनेक स्थलों पर इन्होंने इंग्लिश तथा बंगला की पदावली का भी सर्वथा समर्थ एवं प्राञ्जल छायानुवाद किया है, जिससे कविता-कामिनी के सौंदर्य में अपूर्व निखार आ गया है। पदावली के परिष्कार की यह प्रवृत्ति पंत जी में किस प्रकार प्रचुर परिमाण में लक्षित होती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'पल्लव' की भूमिका में प्रतिपादित उनके विचार हैं।

पंत जी प्रमुख रूप में प्राकृतिक सौंदर्य के कुशल कवि हैं। प्रकृति को अपने वास्तविक रूप में अंकित करने की सर्वाधिक क्षमता पंत जी को प्राप्त है। प्रकृति को उसके अपने रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति के कारण ही उनकी कल्पना सर्वाधिक मूर्तिमती होकर व्यक्त हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत जी छायावाद के क्षेत्र में नूतन चेतना

छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की,
अधखिले सस्मित गढ़ों से सीप के।

यहाँ पर पूर्व को वह पूर्व था, इत्यादि पंक्ति में प्रेयसी का सौंदर्य और कवि का औत्सुक्य मूर्तिमान् होकर व्यक्त हो उठा है।

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था

इस प्रकार प्रणय-बन्धन के दृढ़ हो जाने पर भी समाज ने उनके सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया। नायिका का ग्रन्थि-बन्धन किसी दूसरे के साथ हो जाता है और कवि कह उठता है—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि-बन्धन हो गया, वह नव कमल
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया!

इस प्रकार कवि की आन्तरिक व्यथा गम्भीर से गम्भीरतम होकर उसके अन्तरतम में छा जाती है। 'ग्रन्थि' के निर्माण से पूर्व कवि ने कालिदास का अध्ययन किया था, 'रघुवंश' और 'मेघदूत' से वह विशेष प्रभावित हो चुका था। इसलिए 'ग्रन्थि' की भावाभिव्यंजन-शैली संस्कृत काव्य से अनुप्राणित है। जैसे कि—

निज पलक मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से, उर से मृगेक्षिणी ने उठा,
एक पल निज स्नेह-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी सीप सी।

नायिका की पलकों और नायक के विकलता का साथ ही उठना संस्कृत-काव्यों की शैली है। इसी प्रकार—

ने वीणावादिनी के प्रति कुछ प्रार्थना-गीत भी गाये हैं। इन प्रार्थना-गीतों में भी छायावाद का अस्फुट आभास मिलता है।

मां मेरे जीवन की हार
तेरा उज्ज्वल हृदय हो अश्रुकणों का यह उपहार।

आदि कविताओं में कवि अपने सुख-दुःख, आशा-निराशा सब-कुछ उस माँ की सुषमा और महिमा को समर्पित कर केवल उसका प्यार व विश्व-कल्याण का वरदान पाना चाहता है।

ग्रन्थि—यह एक विरह-काव्य है, जो एक युवक हृदय की प्रणय-कथा पर आधारित है। कहा जाता है कि 'ग्रन्थि' की प्रणय-कथा का सम्बन्ध कवि के जीवन से है। 'ग्रन्थि' में कवि की कल्पना और वेदना बड़ी ही मूर्त्त और सप्राण रूप में अभिव्यक्त हुई है। नौका के नदी में डूब जाने के कारण 'ग्रन्थि' का नायक जल में डूब कर अचेत हो जाता है। संज्ञा आने पर वह अपने-आपको एक सुन्दरी की गोद में शिर रखे पाता है। यहाँ नायक का उसकी प्रेयसी से प्रथम प्रणय का चित्र देखिए कैसा दिव्य है—

जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा,
शीश रख मेरा सुकोमल जांघ पर,
शशिकला - सी एक बाला व्यग्र हो,
देखती थी म्लान-मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर चिंतित दृष्टि से।
इन्दु पर उस इन्दु-मुख पर साथ ही,
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से—
रक्तिम हुए थे पूर्व को—
पूर्व था पर वह द्वितीय अपूर्व था।
लाज की रक्तिम सुरा की लालिमा,
फैल गालों में नवीन गुलाब - से,

जाने के कारण एक भीतरी रहस्यमय प्रदेश मन की आँखों को विस्मित करने लगता है। अब भी 'पल-पल-परिवर्तित प्रकृति-वेश' वाला पर्वत का दृश्य सामने आता है, पर उसके साथ सरल शैशव की सुखद स्मृति-सी एक बालिका भी मनोरम मित्र बनकर पास ही खड़ी दिखाई देती है। बाल-कल्पना की तरह अनेक रूप धरने वाले उड़ते बादलों में हृदय का उच्छ्वास और तुहिन-बिन्दु-सी चंचल जल की बूँदों में आँसुओं की धारा मिल गई है। प्रकृति का प्रांगण छाया-प्रकाश की वीथी बन गया है, उसके भीतर से हृदय की भावना अनेक रूप धारण कर विचरण करती हुई दिखाई पड़ती है। उपलों पर बहु-रंगी लास तथा भंगीमय भृकुटि-विलास दिखाने वाली निश्चल निर्झरी अब सजल आँसुओं की अंचल-सी प्रतीत होती है। निश्चय ही 'पल्लव' की काव्य-भूमिका से वीणा-काल का पवित्र प्राकृतिक सौंदर्य

उड़ गया अचानक लो इधर, फड़का अपार वारिद के पर।

के सदृश ही विलीन हो जाता है। उसके स्थान पर 'अवशेष रह गये हैं निर्झर' शेष रह जाते हैं। उस पवित्रता का स्पर्श पाने के लिए हृदय जैसे छटपटा कर प्रार्थना करने लगता है—

विहग-बालिका का मृदुस्वर, अधखिले वे कोमल अंग,
क्रीड़ा कौतूहल-सा मन को, वह मेरी आनन्द उमंग,
'अहो दयामय, फिर लौटा दो, मेरी पदप्रिय चंचलता,
तरल तरंगों-सी वह लीला, निर्विकार भावना-लता।

फिर भी यह तो मानना ही होगा कि पंत जी ही प्रकृति को सर्वाधिक उसके अपने रूप में चित्रित कर सके हैं। यद्यपि उन्होंने भी कई स्थानों पर प्रकृति को अपनी कल्पनाओं और भावनाओं के रंग में रँग दिया है और उसका मानवीकरण भी किया है; किन्तु यह प्रवृत्ति अन्य छायावादी कवियों की अपेक्षा बहुत कम है। 'पल्लव' का ऐतिहासिक महत्त्व अत्यधिक है, क्योंकि छायावाद का प्रारम्भ इसी से माना जाता है। भाव,

तरणि के साथ ही तरल तरंग से, तरणी डूबी थी हमारी ताल में।

में भी संस्कृत-शैली स्पष्ट लक्षित होती है। 'ग्रन्थि' में अनुभूति वास्तविक और तीव्र रूप में व्यक्त हुई है। 'पल्लविनी' की भूमिका में 'बच्चन' ने लिखा है कि "पंत जी कल्पना के गायक हैं अनुभूति के नहीं, इच्छा के गायक हैं वासना-तीव्र इच्छा के नहीं।" किन्तु 'ग्रन्थि' पर उनकी यह उक्ति नहीं लागू हो सकती। यहाँ तो वह अनुभूति और तीव्र इच्छा के ही गायक हैं और इसी अनुभूति की तीव्रता और वास्तविकता के कारण ही 'ग्रन्थि' पंत जी की उत्कृष्टतम रचना कही जा सकती है।

पल्लव—यह पंत जी का तीसरा काव्य-संग्रह है। इसकी अधिकांश रचनाएँ सन् १९१८ से १९२६ के बीच में लिखी गई थीं। इसी समय पंत जी ने सुरम्य पर्वत-प्रान्त का परित्याग कर प्रयाग के पावन प्रदेश में पदार्पण किया। यद्यपि 'पल्लव' में कवि के आकर्षण का मुख्य केन्द्र प्रकृति है, तथापि अब उसमें वैसी अनुभूति नहीं। इस सम्बन्ध में कवि स्वयं कहता है कि पल्लव-काल में मुझसे प्रकृति की गोद छिन जाती है। 'पल्लव' की रूपरेखाओं में प्राकृतिक सौंदर्य तथा उसकी रंगीनी तो वर्तमान रहती है, किन्तु केवल प्रभावों के रूप में,—उससे वह 'सान्निध्य' का संदेश लुप्त हो जाता है। पल्लव-काल की रचनाओं में विहग, मधुप, निर्झर आदि तो वर्तमान हैं, उनके प्रति हृदय की ममता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छूट जाने के कारण वे स्मृतिचित्र तथा भावना के प्रतीक-भर रह गये हैं। उनके शब्दों में कला का सौंदर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नहीं; प्रकृति के उपकरण राग-वृत्ति के स्वर बन गये हैं। वे अकलुष ऐन्द्रिय मुग्धता के वाहन अथवा वाहक नहीं रह गये हैं। 'वीणा' की रचनाओं में जो स्वाभाविकता मिलती है वह 'पल्लव' में कला-संस्कार तथा अभिव्यक्ति के मार्जन में बदल गई है। बाहर का रहस्यमय पर्वत-प्रदेश आँखों के सामने से ओझल हो

'आह' पर तो जैसे आहें अपने-आप फूट पड़ती हैं। और कविता का सम्पूर्ण प्रवाह जैसे उसी पर केन्द्रित हो जाता है।

करुण है हाय ! प्रणय, नहीं दुरता है जहाँ दुराव।
करुणतम है वह भय, चाहता है जो सदा बचाव।
करुणतम भग्न हृदय नहीं भरता है जिसका घाव।
करुण अतिशय उनका संशय छुड़ाते हैं जो जुड़े स्वभाव।

प्रेम को मनुष्य छिपाना चाह कर भी नहीं छिपाना चाहता अथवा वह छिपाना चाहता ही नहीं, केवल अभिनय करता है। कैसी विडम्बना है यह, और उस पर यह भय कि वे न जाने क्या सोचेंगे, कैसा अनुभव करेंगे ! सब इच्छाएँ और निश्चय एकदम बिखर जाते हैं।

प्रणयी हृदय अपनी प्रेयसी को कल्पनाओं में कितनी सुषमा से सजाता है, यह जिसने अनुभव किया हो वही जानता है और जो विरही हो···

विधुर उर के मृदु भावों से,
तुम्हारा कर नित नव-शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें कुमारि,
मूँद दुहरे दृग-द्वार,
अचल पलकों में मूर्ति सँवार,
पान करता हूँ रूप अपार !
पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल पड़ती है दृग-जल-धार।

कितनी विवशता है ! पलकें बन्द कर प्रेयसी का ध्यान करते ही सहसा आँसुओं के फूट पड़ने में कैसी पीड़ा प्रकट हो रही है।

वह इस अनन्त सुषमा को देखकर स्वयं ही पागल नहीं हो जायगी। पर उसे प्रणयी हृदय के सिवाय और देख ही कौन

भाषा, छन्द आदि सभी दृष्टियों से इसे युगान्तरकारी रचना कहना अनुचित न होगा। इसकी भूमिका में भाषा और छन्दों के सम्बन्ध में व्यापक विचार व्यक्त किये गये हैं। इसमें अनेक स्थानों में प्रकृति के परम मनोहर चित्र अंकित हुए हैं। पर्वत पर पावस-छटा का एक चित्र देखिए—

पावस ऋतु थी पर्वत-प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश,
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा था बार बार, नीचे, जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पला ताल, दर्पण-सा फैला है विशाल।
गिरि का गौरव गाकर झर-झर, मद में नस-नस उत्तेजित कर,
मोती की लड़ियों से सुन्दर, झरते हैं झाग से निर्झर।
गिरिवर के उर से उठ-उठकर, उच्चाकांक्षाओं के तरुवर,
हैं झांक रहे नीरव नभ पर, अनिमेष अटल कुछ चिन्ता पर।
उड़ गया अचानक लो भूधर, फड़का अपार पारद के पर,
रव-शेष रह गये हैं निर्झर, है टूट पड़ा भूपर अंबर,
धँस गए धरा में सभय ताल, उठ रहा धुंआ जल गया ताल,
यों जलद-यान में विचर-विचर, था इन्द्र खेलता इन्द्र-जाल।

कहीं-कहीं प्रकृति पर मानवीय व्यापारों की व्यंजना भी बड़े सुन्दर ढंग से हुई है।

'वीची-विलास' और 'बादल-राग' भी 'पल्लव' की प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ हैं। किन्तु इनमें वह सजीवता नहीं। 'छाया' कविता के कुछ पद बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। 'आँसू' भी एक उत्कृष्ट कविता है।

वर्ण-वर्ण है उर का कम्पन, शब्द-शब्द है सुधि का दर्शन,
चरण-चरण है आह, कथा है कण-कण अथाह।

इसमें पदों की आवृत्ति अनुनासिकान्त चरण तथा तीसरे पद में 'आह' पर सम पीड़ा की अनुभूति को बहुत गहराई पर उतार देते हैं।

करते हो संसृति को उत्पीड़ित पदमर्दित,
नग्न नगर कर; भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिर-संचित,
अहे निरंकुश पदाघात से जिनके विह्वल;
हिल हिल उठता टलमल
पद-दलित धरातल

परिवर्तन की इस भयंकर उद्दण्डता का एक और चित्र देखिए—

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग-संस्कृति में निर्भर,
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध; शृंगवर
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य-भूति के मेघाडंबर।
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकंपन
गिर-गिर पड़ते भीत पक्षि-पोतों से उडुगन,
आलोड़ित अम्बुधि फनोन्नत कर शत-शत फन
मुग्ध भुजंगम-सा इंगित पर करता नर्तन।
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन।

इस पद में परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप धारण कर उपस्थित हो गया है। भीषण-से-भीषण भावों को कवि ने अत्यन्त कुशलता से काव्य का रूप दे दिया है। 'परिवर्तन' कविता वास्तव में विश्व-साहित्य की एक अनुपम निधि है।

खुले मौन थे लाज के बोल
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल,
हाय! रुक गया यहाँ संसार!
बना सिन्दूर अंगार।

सकता है ?

एक वीणा की मृदु झंकार, कहाँ है सुन्दरता का पार,
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि, दिखाऊँ मैं साकार !

वीणा की मृदु झंकार में अनुभूत सौंदर्य का कैसा सुन्दर रूपक है। दर्पण के प्रतिविम्बन में असमर्थता ने उसकी असीमता और अलौकिकता को अत्यन्त सजीव बना दिया है। 'मौन निमंत्रण' भी 'पल्लव' की एक उत्कृष्ट कविता है—

न जाने नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन,

आदि में रहस्यवाद की प्रथम अवस्था व्यक्त हुई है। 'पल्लव' की सर्वोत्कृष्ट कविता 'परिवर्तन' है। 'परिवर्तन' का एक-एक पद इतना सशक्त और सप्राण है कि परिवर्तन का प्रत्यक्ष रूप अंकित कर जाता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

अहे वासुकि-सहस्र-फन,
लक्ष-अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर,
छोड रहे हैं जाके विक्षत वक्षस्थल पर
शत शत फनोच्छ्वासित स्फीत-फूत्कार भयंकर,
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर,
मृत्यु तुम्हारा गरल-दन्त कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर
वक्र कुण्डल
दिङ् मण्डल।

इसमें सहस्र-फण शेषनाग की प्रलय-लीला में फनोच्छ्वासित स्फीत फूत्कार जैसे स्वयं ही गरज उठे हों।

अहे दुर्जेय विश्व-जित्
तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित,

काव्य और जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। अब तक वह सुखों की गोद में पला था। इसीलिए सुख के महत्त्व को न समझता था, अब दुःख झेल कर सुख और दुःख दोनों के महत्त्व को समझ गया। और उसके मुख से अनायास निकल पड़ा—

मैं नहीं चाहता चिर सुख, मैं नहीं चाहता चिर दुख,
जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव-जग में बट जावे दुख सुख से औ' सुख दुख से।

वह फिर कहता है—

वन की सूनी डाली पर, सीखा कलि ने मुस्काना।
मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना।

इस प्रकार कवि ने लगभग पन्द्रह कविताओं में सुख-दुःख-सम्बन्धी गीत गाये हैं। इसके पश्चात् कवि की परिस्थितियाँ पुनः परिवर्तित होती हैं। पूर्ण स्वस्थ होने पर कवि का दुःखवाद कम हो जाता है और आशावाद का प्रकाश फैलने लगता है। और वह चहक उठा—

सुन्दर सुन्दर जग जीवन।

इस आशावाद में कवि का प्रणयोल्लास विकसित हो उठता है। भावी पत्नी के प्रति आदि-कविताओं में प्रकृति का सारा मधुहास प्रेयसी की सुषमा का विस्तार प्रतीत होता है। वह कहता है—

प्रिये कलि कुसुम-कुसुम में आज मधुरिमा मधु-सुषमा सुविकास
तुम्हारी रोम-रोम छवि व्याज, छा गया मधुवन में मधुमास।
..................., नयन से नयन गात से गात
पुलक से पुलक प्राण से प्राण,..................
देह में पुलक उरों में भार, भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण
अधर में अमृत, हृदय में प्यार, गिरा में लाज, प्रणय में मान!
आज रे शिथिल शिथिल तन-भार, आज दो प्राणों का दिन-मान,
आज क्या प्रिये सुहाती लाज, आज रहने दो यह गृह-काज।

पहली दो पंक्तियों में परिणीता की सुकुमारता का कैसा सजीव चित्र है, किन्तु 'हाय' से एकदम ही वातावरण ऐसे बदल जाता है मानो वास्तविक घटना हो गई हो। भाव के अनुसार भाषा और चित्र-विधान का यह अत्युत्कृष्ट उदाहरण है।

इन उत्कृष्ट कविताओं के अतिरिक्त 'पल्लव' में अनेक ऐसी कविताएँ भी स्थान पा गई हैं जिनमें कल्पना के व्यायाम के अतिरिक्त और कुछ मिलता ही नहीं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि 'पल्लव' संग्रह की अधिकांश रचनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। और 'परिवर्तन' ने तो इसके मूल्य को कई गुना बढ़ा दिया है। निराला जी ने 'परिवर्तन' की प्रशंसा में कहा है कि वह किसी भी चोटी के कवि की रचना से मैत्री स्थापित कर सकता है। इस कविता के लिए कवि के ये शब्द भी स्मरणीय हैं कि "इस कविता-जगत् में नित्य-जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचना-काल से प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसंधान का केवल प्रतीक-मात्र है।"

गुञ्जन—'पल्लव' के पश्चात् कवि की आत्मा का उन्मन गुञ्जन, 'गुञ्जन' नामक कविता में गुञ्जरित हुआ है। इसमें सन् १९२६ से ३१ के बीच लिखी हुई कविताएँ संकलित हैं। इस समय तक कवि को अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ा। उनके मझोले भाई एक बड़ा भारी कारोबार शुरू कर ९२००) रुपया कर्ज़ छोड़ कर मर गये। पिता ने जायदाद बेच कर कर्ज़ तो चुका दिया किन्तु अगले ही वर्ष वे भी चल बसे। परिवार का आर्थिक ढांचा टूट कर गिर पड़ा। एक ओर भीषण आर्थिक संकट, और दूसरी ओर मानसिक चिन्ताओं ने कवि को घेर कर कवि के स्वास्थ्य को चौपट कर डाला। उमरख़ैयाम की रुबाइयों का इण्डियन प्रेस के लिए अनुवाद करने के दिनों में लू लग जाने के कारण आप बुरी तरह बीमार पड़ गये। इन सब दुःखों का कवि के

का अभिनव आदर्श स्थापित कर देती है।

युगान्त—इसकी अधिकांश रचनाएँ १६३४ और ३५ में लिखी गई हैं। यह कवि की चिन्तन-प्रधान कविताओं का संग्रह है। इसमें 'सुन्दरं' के साथ कवि 'सत्यं' और 'शिवं' की ओर आकृष्ट हुआ है। यह प्रगतियुग के प्रारम्भ की एक प्रकार से भूमिका है। अथवा इसे छायावादी सौन्दर्ययुग और प्रगतियुग के मध्य की कड़ी भी कह सकते हैं। कवि ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—"'युगान्त' में मैं निश्चय रूप से इस परिणाम तक पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला हुआ युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यंभावी है।" इसके प्रथम गीत ही में कवि माँगता है—

द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त-ध्वस्त, हे शुष्क-शीर्ण,
हिम-ताप-पीत, मधु-वात-भीत, तुम वीतराग, जड़, पुराचीन।

वह फिर कहता है कि—

गा कोकिल बरसा पावक-कण, नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।

इसमें कवि जड़वाद से जर्जरित मानवता का परित्राण चाहता है। इसीलिए महात्मा जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ वह कहता है—

जड़वाद-जर्जरित जग में, अवतरित हुए आत्मा महान,
यन्त्राभिभूत जग में करने, मानव-जीवन का परित्राण।

बात तो यह है कि सन् १६२६ से ३४ तक के राष्ट्रीय आन्दोलन में गाँधीजी का तेज सर्वत्र छा गया था। प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान पीड़ित मानवता के प्रति आकृष्ट हो चुका था, अतः कवि भी कल्पित स्वप्न-लोक के छायावादात्मक संसार में भला कैसे विचरता रह सकता था! वह भी कल्पना के कलित लोक से दृढ़ कठोर भूमि पर उतर आया। यद्यपि 'पल्लव' के अन्त में ही कवि ने—

'स्वस्ति जीवन के छाया-काल'

प्रेयसी की आँखों को सम्बोधित कर कवि कहता है—

तुम्हारी आँखों का आकाश, सरल आँखों का नीलाकाश—
खो गया मेरा खग अनजान, मृगेक्षणी! इनमें खग अज्ञान

इस प्रकार प्रणय और सौंदर्य के स्वच्छन्द गीत गाता हुआ कवि पुनः प्रकृति की पावन लीलाओं की झलक पाकर उन्हीं में रम जाता है। 'गुञ्जन' का 'गंगा-वर्णन' विश्व की प्राकृतिक सौन्दर्य-सम्बन्धी कविताओं में अपना विशेष स्थान रखता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

तापस-बाला गंगा निर्मल शशिमुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल!
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर लहराता तार-तरल सुन्दर,
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर!
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर!

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'गुञ्जन' में तीन प्रकार की कविताएँ हैं—

(१) सुख-दुःख-समन्वयमूलक आशा और उत्साह से भरी मानवतावादी कविताएँ। (२) प्रेयसी के प्रति प्रणय-निवेदनात्मक कविताएँ। (३) प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ। इनके अतिरिक्त पाँच-छः फुटकर कविताएँ भी इनमें स्थान पा गई हैं।

ज्योत्स्ना—यह कवि के स्वप्न-संसार को अथवा मानवतावाद को मूर्तरूप देने वाला पाँच अंकों का नाटक है। इसका कथानक ढीला-ढाला होने के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए कवि ने नाटक का माध्यम चुन लिया है। कथा इस प्रकार है—संसार में सर्वत्र ऊहापोह और घातक क्रान्ति देखकर इन्दु अपने राज्य की बागडोर अपनी रानी ज्योत्स्ना को दे देता है, जो स्वर्ग से भू पर आकर पवन और सुरभि अथवा स्वप्न व कल्पना की सहायता से संसार में प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक और जीवन

कहीं वह दोनों की साथ-साथ प्रशंसा करता है—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद ,
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य-योजना है अविवाद।

पर यह स्पष्ट है कि अन्त में उसका झुकाव गाँधीवाद की ओर ही अधिक है। इन प्रचारात्मक कविताओं के अतिरिक्त 'युगवाणी' में 'गंगा की साँझ', 'गंगा की प्रात' आदि प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी कविताएँ भी हैं। मध्यवर्ग, कृषक और धनपति तथा नारी आदि के सुन्दर रेखाचित्र भी अंकित हुए हैं—

मध्यवर्ग का मानव, वह परिजन पत्नी-प्रिय
यशःकामी, व्यक्तित्व-प्रसारक परहित निष्क्रिय !

अब एक धनिक का चित्र देखिए—

वे नृशंस हैं, वे जन के श्रम-बल से पोषित
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित !
सुरांगना संपदा, सुराओं से संसेवित
नर पशु वे : भूभार मनुजता जिनसे लज्जित।

इसी प्रकार नारी के सम्बन्ध में देखिए कितनी मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
मानव की चिर सहधर्मिणी युग-युग से मुख अवगुंठित,
स्थापित घर के कोने में वह दीपशिखा-सी कंपित।

अनेक गीतों में कवि ने नव-मानवता की महिमा गाई है। इस नवीन संस्कृति के स्वप्न सचमुच सुन्दर हैं। इस प्रकार 'युगवाणी' में कवि ने अध्यात्मवाद और भौतिकवाद अथवा साम्यवाद व गाँधीवाद की महिमा का बखान करते हुए समाज के विविध वर्गों की कमज़ोरियों पर तीखे व्यंग्य कसते हुए, अभिनव मानव-संस्कृति के निर्माण का

कह कर छायावादी काव्य से विदा ले ली थी और 'गुञ्जन' में उसने कुछ मानवतावाद के गीत भी गाये। पर अभी तक वह उस कल्पित आवरण से बाहर नहीं निकल पाया। 'युगान्त' में कवि ने इसके लिए पूरी तरह कमर कस ली है। यद्यपि इसमें भी अधिकतर कविता 'गुञ्जन' जैसी ही है, 'युगवाणी' की कविताएँ लिखते हुए ऐसी सब रचनाओं को गुञ्जन-युग की समझ कर कवि ने इसका नाम 'युगान्त' रख दिया।

प्रगतिवादी काव्य

युगवाणी—इसमें सन् १९३६ से ४१ तक की रचनाएँ संकलित हैं। अब तक भारतीय नवयुवकों पर गाँधीवाद के साथ-साथ साम्यवाद और समाजवाद का प्रभाव भी बढ़ने लगा था। सन् १९३६ से हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवादी काव्यधारा का प्रवर्तन भी हो चुका था। बात तो यह है कि इस समय तक जनता का ध्यान शोषित किसानों और मज़दूरों की ओर आकृष्ट हो चुका था। शोषण का अन्त करने के लिए गाँधीवाद और साम्यवाद दोनों अपने-अपने ढंग से अग्रसर हो रहे थे, अतः जन-सामान्य का दोनों के प्रति आकर्षण था। वे दोनों में से किसी एक को छोड़ने या अपनाने का दृढ़ निश्चय न कर पाते थे। यही कारण है कि 'युगवाणी' में कवि कहीं गाँधीवाद की ओर झुकता है, तो कहीं साम्यवाद की ओर—

साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग करता मधुर पदार्पण !

में वह साम्यवाद का स्पष्ट प्रचारक बना हुआ है। वह फिर कहता है—

श्रमिकों का साधन होगा अब उत्पादन-यंत्रों पर !
वर्ग-हीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन,

पर दूसरे ही क्षण वह गाँधीवाद के स्तुति-गान गाने लगता है—

चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
बापू ! तुम पर हैं आज लगे जग के लोचन
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बन्धन ?

लहरी, तुम चपल लालसा, श्वास-वायु से नर्तित
तितली-सी फूल फूल पर मँडराती मधुक्षण हित !
मार्जारी तुम नहीं, प्रेम को नहीं आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन-पद मद, आत्म-प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी ;
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, सिर्फ तुम नारी ।

'ग्राम्या' को पन्त जी ने 'ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति की प्रेरणा' कहा है जो सर्वथा उचित है। ग्रामीण जीवन के विविध रूपों और कुरूपों के इसमें सुन्दर शब्दचित्र और भावचित्र प्रस्तुत किये गये हैं। यद्यपि 'ग्राम्या' में भी कवि दर्शक ही है परन्तु बुद्धि के आसन पर बैठ कर भी वह हृदय की आँखों से जीवन के दर्शन करता है। ग्राम-बनिया, ग्राम-वधू, ग्राम-नारी तथा धोबियों, चमारों और कहारों के नृत्य पर लिखे गये सामूहिक व वैयक्तिक चित्र बड़े ही हृदयहारी बने हैं। 'युगवाणी' में यदि सिद्धान्तों का स्फुट निरूपण और चिन्तन है तो 'ग्राम्या' में वह लोकजीवन है जिसके लिए सिद्धान्तों का चिन्तन किया गया था। कला की दृष्टि से भी 'ग्राम्या' में लोकरस की प्रधानता और भाषा में ग्राम-चित्रों को अंकित करने की ऐसी सशक्त योजना है, जिससे ग्राम-जीवन को मूर्त्त अभिव्यक्ति प्राप्त हो गई है। शैली से विश्लेषण और सूक्ष्मता तक पहुँचने की विशेषता स्पष्ट प्रकट होती है। 'ग्राम्या' का एक-एक चित्र देखने योग्य है। यहाँ किसको उद्धृत करें और किसको छोड़ें, फिर भी धोबियों और चमारों का एक नृत्य देख ही लीजिए—

लो, छन छन छन छन,
छन छन छन छन
ठुमुक गुजरिया हरती मन !
उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ' हुड़क घुड़कता ढिम ढिम ढिम

स्वप्न देखा है। बीच-बीच में कुछेक प्रकृति-चित्र भी आये हैं पर दो-एक को छोड़ कर शेष सब निर्जीव-से हैं।

ग्राम्या—यह पंत जी की सबसे सशक्त और सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसके सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि 'युगवाणी' के दृष्टिकोण से यदि हम अपने ग्रामीणों के जीवन को देखें, तो आप गाँव को शान्ति और प्राकृतिक सुन्दरता की रंगस्थली नहीं पायेंगे। न वहाँ आपको स्वर्ग का सुख ही कहीं देखने को मिलेगा। सच बात तो यह है कि 'ग्राम्या' की निम्न पंक्ति ग्राम्य-जीवन का सच्चा चित्र है—

यह भारत का ग्राम सभ्यता-संस्कृति से निर्वासित।

'स्वीट पी के प्रति' शीर्षक कविता में उच्चवर्गीया नारी के प्रति बड़ा ही तीखा व्यंग्य है—

कुलवधुओं-सी अयि सलज्ज, सुकुमार !
शयन-कक्ष, दर्शनगृह की शृंगार !
उपवन के यत्नों मे पोषित,
पुष्प-पात्र में शोभित, रक्षित,
कुम्हलाती जाती हो तुम, निज शोभा ही के भार !
कुलवधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार !
सुभग रेशमी वसन तुम्हारे
सुरंग सुरुचिमय—
अपलक रहते लोचन !
फूट-फूट अंगों से सारे
सौरभ अतिशय
पुलकित कर देतीं मन ?

आज की नारी दया, माया, ममता, श्रद्धा और विश्वास आदि महिलोचित गुणों के अभाव में नारी नहीं रह गई है—

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'ग्राम्या' पंत जी की एक उत्कृष्ट रचना है।

आध्यात्मिक काव्य

स्वर्णकिरण—सन् १९४० में 'ग्राम्या' के पश्चात् सात वर्ष तक कवि की कोई रचना प्रकाशित नहीं हुई। भारत के या विश्व के राजनैतिक क्षेत्र में यह संघर्ष का काल था और इधर कवि का जीवन भी संघर्षमय रहा। वह रुग्ण होकर एक बार फिर मृत्युशय्या तक जा पहुँचा। स्वस्थ होने पर कवि कुछ दिनों तक पांडीचरी अरविन्द-आश्रम में रहा। फलतः उसके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी परिवर्त्तन हो गया। अरविन्द का प्रभाव उस पर स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा। फिर कवि ने सांस्कृतिक पुनरुद्धार के लिए प्रयत्न करना चाहा और प्रसिद्ध नर्त्तक उदयशंकर के साथ सांस्कृतिक चित्रपटों की तैयारी में लग गया और 'कल्पना' नामक सांस्कृतिक चित्रपट प्रस्तुत भी किया गया। अब उसने अरविन्द से प्रभावित होकर आध्यात्मिक चेतना के गीत गाने आरम्भ कर दिये। अस्वस्थता के कारण एकान्त-निवास ने कवि को अन्तर्मुखी बना दिया। प्रगति-काव्य में कवि का मूर्त्त समस्याओं और साम्यवादी लोक-जीवन-दर्शन की ओर जो झुकाव था, वह युग के प्रभाव से उत्पन्न अस्थायी बौद्धिक जागरण-मात्र था। इसलिए उसे अपने स्वाभाविक रूप को फिर अपनाने में देर न लगी। 'ज्योत्स्ना' का आध्यात्मिक मानववाद ही इस युग में समन्वय के आधार पर विकसित होने वाले अन्तर्चेतनावादी नवमानववाद के रूप में प्रकट हुआ। पन्त के इस नवीन अध्यात्मवाद का आधार विरक्ति नहीं, मानव के मानसिक विकास के प्रति मनोवैज्ञानिक अनुरक्ति है। वाह्य के विकास के लिए अन्तर् का विकास आवश्यक है। अविकसित चेतना भौतिक विकास में सहायता नहीं कर सकती; इसलिए कवि भूत और चेतना, अध्यात्म और भौतिकता, मन और मस्तिष्क, बुद्धि और हृदय का समन्वय करके एक पूर्ण मानवीय विकास की कल्पना

मंजीर खनकते खिन खिन खिन,
मद-मस्त रजक, होली का दिन,
लो, छुन छुन छुन छुन,
छुन छुन छुन छुन
थिरक गुजरिया हरती मन !
वह काम-शिखा-सी रही सिहर
नर की कटि में लालसा-भँवर !
कँप कँप नितंब उसके थर थर
भर रहे घंटियों में रति-स्वर !
लो, छुन छुन छुन छुन
छुन छुन छुन छुन
मत्त गुजरिया हरती मन,

कभी चमार नाच रहे हैं—

अरर अरर……………………
मचा खूब हुल्लड़ हुड़दंग,
धमक धमाधम रहा मृदंग
उछल-कूद, बकवाद, झड़प में,
खेल रही खुल हृदय-उमंग
वह चमार चौदस का ढंग।
ठनक कसावर रहा ठनाठन,
थिरक चमारिन रही छुनाछुन,
झूम झूम बाँसुरी करिंगा
बजा रहा, बेसुध सब हरिजन,
गीत नृत्य के सँग है प्रहसन !

इन शब्द-चित्रों का रस लेते हुए पाठक इतना तन्मय हो जाता है कि ये चित्र सजीव होकर उसकी आँखों के सामने नाचने लगते हैं।

की प्रधानता है। इन आध्यात्मिक काव्यों में अप्रासंगिक रूप से घुसे हुए शृङ्गारिक नग्न चित्र कुछ शोभा नहीं देते।

स्वर्णधूलि—इसकी अधिकांश रचनाओं का आधार सामाजिक है। इसमें 'चाँदनी', 'मर्म-व्यथा', 'स्वत्व-बन्धन' आदि कुछ एक साधारण गीत भी हैं। 'पतिता' में नारी की शारीरिक पवित्रता को आत्मिक पवित्रता की दृष्टि से देखने की प्रेरणा है। 'मानसी' शीर्षक रूपक भी इसी के अन्तर्गत है। कवित्व की दृष्टि से इस रचना को साधारण नहीं कहा जायगा।

उत्तरा—यह सन् १९४९ में प्रकाशित हुई है। इसमें भी 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्णकिरण' के ढंग की कविताएँ संकलित की गई हैं। कुछ प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ भी हैं, पर वहाँ कवि की विशुद्ध प्राकृतिक दृष्टि नहीं है। जिस विकसित भू-जीवन के स्वप्न कवि देखता है, वही प्रकृति के ऋतु-वैभव में पल्लवित हो उठे हैं। इसके अतिरिक्त कुछ धरती तथा युग-जीवन-सम्बन्धी, कुछ प्रकृति तथा विप्रलम्भ-शृङ्गार-परक कविताएँ तथा कुछ प्रार्थना-गीत संकलित हैं। इसकी बृहद् भूमिका में कवि ने अपने उत्तर-जीवन की प्रेरणाओं और विचारधाराओं का विश्लेषण किया है।

युगपथ—इसके 'युगान्त' और 'युगान्तर' नामक दो भाग हैं। 'युगान्त' पर पहिले विचार किया जा चुका है। 'युगान्तर' में सोलह कविताएँ गाँधी जी से सम्बन्धित दी गई हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, योगिराज अरविन्द, और भगवान् राम के प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ भी अर्पित की गई हैं। स्वतन्त्र भारत का स्वागत भी अनेक कविताओं में किया गया है। एक कविता देखिए—

अहह इस सोने की धरती के खुले आज सदियों के बंधन
मुक्त हुई चेतना धरा की, मुक्त बने अब भू के जन गन!
अगणित जन-लहरों से मुखरित उमड़ रहा जग-जीवन-सागर

करता है। इस प्रकार आध्यात्मिक चेतनावाद उनकी आधुनिकतम रचनाओं में व्यक्त हुआ है। 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'युगपथ' इन चारों रचनाओं में इसी चेतनावाद की प्रधानता है। 'स्वर्ण' शब्द का प्रयोग चेतना के प्रतीक के रूप में किया गया है।

'स्वर्णकिरण' में प्रकृति और जीवन के प्रति आध्यात्मिक आकर्षण है। बौद्धिक चिन्तन की प्रधानता और मांसल सौंदर्य की न्यूनता स्पष्ट लक्षित होती है। वेद और उपनिषद् की दिव्य भावनाएँ भी इसकी अनेक कविताओं में मुखरित हुई हैं। अनेक मन्त्रों का छायानुवाद या भावानुवाद भी छायावादी ढंग पर किया गया है। 'सर्वोदय' शीर्षक रचना में अपने इस नव-चेतनात्मक मानववाद का स्वरूप इस प्रकार दिखाया गया है—

भू-रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शांति के हो गत संस्कृत धर्म समन्वित।
वृथा पूर्व-पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खण्डित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित।
एक निखिल धरणी का जीवन एक मनुजता का संघर्षण
विपुल ज्ञान-संग्रह भव-पथ का विश्व क्षेम का करे उन्नमन।

इसके अतिरिक्त अवचेतन और उपचेतन की अनेक उलटबासियों से भी यह अध्यात्मवादी काव्य भरे हुए हैं। ऐतिहासिक वृत्तों का आध्यात्मिक रूप भी अनेक कविताओं में दिया गया है, जैसे कि 'अशोक वन' में सीता को भू-चेतना, राम को स्वर्ग-चेतना और रावण को अवचेतना कहा गया है। 'स्वर्णोदय' में जीवन के भू पर अवतरण और उसके विकास-ह्रास के क्रमान्तर को साधारण बालक की जीवन-यात्रा के रूप में अंकित किया गया है। इस चेतनावाद में मातृवाद भी यत्र-तत्र आ बैठा है। इन काव्यों में जो प्रकृति के चित्र अंकित हुए हैं, उनमें कवि के हृदय-स्थान पर परम्परा-पालन-मात्र

कोमल-कान्त पदावली एवं मुक्त शैली हिन्दी-साहित्य को उनकी मुख्य देन है। उनकी कला में पूर्व और पश्चिम के तत्त्वों का अभूतपूर्व समन्वय हुआ है। छायावादी कवियों में प्रसाद, पन्त और निराला की 'त्रयी' का यश सदा अमर रहेगा। पन्त जी की कला सदा युग के अनुरूप विकासोन्मुखी रही है। वे निस्संदेह कवि की वाणी में तत्त्व-चिन्तकों के विचारों को व्यक्त करने वाले आज के उत्कृष्टतम कलाकार हैं।

रेडियो से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात् 'विद्युत्वसना' आदि उन्होंने कई ध्वनिरूपक लिखे हैं, जिन्हें 'ज्योत्स्ना' की परम्परा की लघु रचना कह सकते हैं। इनके पात्र भावनाओं और प्रकृति के उपकरणों के प्रतीक होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने अपनी इन नवीनतम रचनाओं में आध्यात्मिक चेतनावादात्मक अभिनव जागरण का संदेश दिया है। इस संदेश में वैदिक काल से लेकर आज तक के तत्त्वदर्शी मनीषियों की वाणी प्रतिध्वनित हो रही है। स्वभावतः यह काव्य भाव-प्रधान न होकर विचार-प्रधान ही है। जन-जीवन के सांस्कृतिक स्तर को उच्चतम भूमि पर ले जाकर प्रतिष्ठित करना ही इन रचनाओं का लक्ष्य है। बात तो यह है कि 'ज्योत्स्ना' में जिस नवीन स्वर्णयुग की कल्पना की गई थी उसी का यहाँ विकास हुआ है।

पन्त जी के सम्पूर्ण काव्य पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल पर प्रत्येक युग की माँग को पूरा करने वाली अनेक रचनाएँ दी हैं। उनकी आरम्भिकतम रचनाओं पर स्वामी विवेकानन्द जी का प्रभाव है। तत्पश्चात् रवीन्द्र के प्रति उनकी आस्था जागृत हुई। अन्त में वे इस युग को दो विश्व-विभूतियों—'बापू' और 'अरविन्द'—से प्रभावित होकर काव्य-रचना करने लगे। इन सब रचनाओं में प्रकृति के प्रति इनका प्रेम भी स्वतः प्रकट होता रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी हिन्दी की नवीनधारा के एक सजग कलाकार हैं। वे प्रकृति और जीवन की विविध कोमलतम भावनाओं के कवि हैं। उनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है कि शब्दों के साथ-साथ उनके भाव लहराते चलते हैं। इनकी प्रत्येक पंक्ति पाठक को तन्मय कर देती है। काव्य, चित्र और संगीत की त्रिवेणी का जैसा संगम इनकी रचनाओं में है वह वास्तव में स्पृहणीय है। पन्त जी के काव्यों से उनकी मननशीलता स्पष्ट लक्षित होती है।

में लीन आत्मा सदैव विरहित ही रहती हैं। इसलिए उनकी वाणी में विरह-वेदना की प्रधानता रहती है। महादेवी जी प्रकृति के प्रत्येक प्रान्त से अमृत-सुषमा का प्रेमोपहार लाकर अपने अनुपम प्रियतम का शृङ्गार करती हैं; वे प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों में अपने प्रियतम का प्रतिबिम्ब पाकर उससे चिरमिलन के लिए उत्कण्ठित हो उठती हैं।

कैसे कहती हो सपना है आली! इस मूक मिलन की बात,
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास।

में प्रियतम से दिव्य साक्षात्कार का परिचय भी देती हैं। प्रिय की उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा ही इनकी कविता का पाथेय है। इनकी अलौकिकता विरह और मिलन, औत्सुक्य और नैराश्य, आह्लाद और प्रत्याख्यान या रूठने और मनाने में ही नहीं है, अपितु उनका शृङ्गार भी तुलसी के समान सात्त्विक और पवित्र है। चाहे संयोग-पक्ष हो चाहे वियोग-पक्ष, शृङ्गार के दोनों पक्षों के सुरुचिपूर्ण ऐसे सात्त्विक चित्र अन्यत्र दुर्लभ हैं।

कवयित्री के अन्तर्तम से प्रकृति के प्रति अपूर्व प्रेम प्रवाहित हो रहा है। छायावाद की अभिव्यञ्जनात्मक शैली की कोमल-कान्त पदावली में रूपकों के द्वारा प्रकृति के मार्मिक चित्र अंकित करने में ये अपना उपमान आप ही हैं। महादेवी के रहस्यवाद का हिन्दी-जगत् में अपना विशेष स्थान है। आचार्य शुक्ल जी ने तो केवल महादेवी की रचनाओं में वास्तविक रहस्यवाद का दर्शन किया है। महादेवी के प्रत्येक पद से परिष्कारप्रियता और सुकुमारता टपकती है। 'दीप-शिखा' में उनकी उत्कृष्टतम तथा प्रौढ़ रचनाएँ संकलित हैं। प्रतीक, समासोक्ति और मूर्त्तिमत्ता व अभिव्यञ्जनात्मकता आपकी कविता की मुख्य विशेषताएँ हैं। महादेवी की रचनाओं में प्रतीकात्मकता की इतनी प्रचुरता है कि कहीं-कहीं इनकी रचनाएँ सामान्य पाठक के अन्तर् में सहसा नहीं बैठ पातीं। बात तो यह है कि प्रत्येक रहस्यवादी कवि

श्रीमती महादेवी वर्मा

जन्म संवत् १९६४

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ वि० में फ़र्रुख़ाबाद में हुआ। इनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। सं० १९७२ में डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा के साथ इनका विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् इन्होंने मैट्रिक, एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० परीक्षाएँ पास कीं। कुछ समय तक 'चाँद' की सम्पादिका का कार्य कर 'प्रयाग-महिला-विद्यापीठ' की आचार्या के पद पर प्रतिष्ठित हुईं। 'साहित्यकार-संसद्' नामक संस्था स्थापित कर ये हिन्दी-लेखकों की सहायता करने का स्तुत्य प्रयत्न कर रही हैं। 'नीरजा' पर ५००) रु० का सेक्सेरिया पुरस्कार और 'यामा' पर १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक इन्हें प्राप्त हो चुका है। सेक्सेरिया पुरस्कार के ५००) रु० इन्होंने 'प्रयाग-महिला-विद्यापीठ' को दान कर दिये हैं।

महादेवी मीरा की अवतार कही जाती हैं। मीरा की मधुरता और वेदना महादेवी के प्रत्येक पद में प्रतिविम्बित हो रही है। इनकी रचनाएँ परिमाण में अपेक्षाकृत स्वल्प होती हुई भी उत्कृष्ट गुणों की आगार हैं। ये अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी-काव्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग का नेतृत्व कर रही हैं। महादेवी हिन्दी में स्वर्गीय गीतों की श्रेष्ठतम गायिका हैं, जिनमें जीवन का दिव्य सत्य अंतर्हित होता है। स्थूल जगत् की अपूर्णता से विक्षुब्ध होकर अव्यक्त पूर्णता के अन्वेषण

पूर्ण चित्रण जैसा महादेवी ने किया है वैसा वे तीनों कवि नहीं कर पाये हैं। देखिए—

जाग जाग सुकेशिनी री,
अनिल ने आ मृदुल हौले, शिथिल वेणी बन्ध खोले।
पर न तेरे पलक डोले,
बिखरती अलक झरे जाते सुमन वर वेणिनी री।
जाग जाग सुकेशिनी री,
छाँह मे अस्तित्व खोये, अश्रु के सब रंग धोये।
मंद प्रेम दीपक सँजोये,
पंथ किसका देखती तू, अलस स्वप्न निमेषिनी री।

महादेवी जी ने अपनी कविताओं में रूप-चित्रण की अपेक्षा भाव-चित्रण को प्रधानता दी है। किन्तु रूप-चित्रण के बिना रहस्यवाद के काव्य में कला का पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हो सकता। फिर भी जहाँ व्यक्त रूप किसी-न-किसी प्रकार आ गये हैं वहाँ इनकी रचना भी सुन्दर बन गई है। देखिए—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
शलभ जिसके प्राण में, वह निठुर दीपक हूँ।
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ।
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ।
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

श्रीमती महादेवी वर्मा की कविताओं में छायावाद की दोनों विशेषताएँ अपने पूर्ण प्रौढ़ रूप में प्राप्त होती हैं। छायावाद में एक शैलीगत विशेषता रहती है तो दूसरी वर्ण्य विषय या वस्तुगत। छाया-वादी कवि या तो इस अनन्त विश्व के अणु-अणु में अपने प्रियतम की झाँकी पाता है और इसी की झलक अपनी कविताओं में दर्शाता है

की भाषा उसके भावों को पूरी तरह बिना प्रतीकों के प्रकट ही नहीं कर सकती और प्रतीकात्मक पदावली के रहस्य तक पहुँचने के लिए प्रखर प्रतिभा की परमावश्यकता रहती है।

महादेवी जी की ये रचनाएँ प्रसिद्ध हैं :—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत और दीपशिखा। 'यामा' में नीहार, रश्मि और नीरजा की कविताएँ संकलित हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'शृङ्खला की कड़ियाँ' इनके निबन्ध हैं। 'हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य' एक आलोचनात्मक पुस्तक है। कवयित्री के साथ महादेवी जी एक श्रेष्ठ चित्रकार भी हैं।

महिलोचित सात्त्विक कला ने महादेवी जी के काव्य में एक सार्वत्रिक विशेषता उत्पन्न कर दी है। इनसे इनके काव्य को सुन्दर कान्ति मिली है। उनकी भावुकता भी देखने योग्य है—

चाहता है यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार
कलियों के उच्छ्वास शून्य में, ताने एक वितान,
तुहिन-कणों की मृदु कंपन से सेज बिछाये गान,
जहाँ सपने हों पहरेदार।

महादेवी जी ने छायावादी काव्य में व्यक्त प्रकृति के सौंदर्य-प्रतीकों को न लेकर उन प्रतीकों की अव्यक्त रतियों अथवा छायाओं का संग्रह किया है। इससे उनकी कविताओं में वेदना की विवृति और रहस्यात्मकता बढ़ गई है। देखिए :—

उन हीरक के तारों को, कर चूर्ण बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिलाकर, प्राणों का आसव ढाला।
मलयानिल के झोंकों में, अपना उपहार लपेटे।
मैं सूने तट पर आई, विरह उद्गार समेटे।

प्रसाद के 'आँसू', निराला की स्मृति जैसी उड़ान और एक भावकल्पना तथा पन्त के 'पल्लव' जैसा सौन्दर्यान्वेषण महादेवी जी में नहीं है। किन्तु वेदना का विन्यास, उसकी वस्तु-सत्ता का बहुरूप विवरण और

काल से विम्ब-प्रतिविम्ब के रूप में चला आता है।

(३) वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता भी छायावाद की एक अन्य विशेषता है। मीरा के समान महादेवी की कविताओं में भी इस वैयक्तिकता को प्रमुखता प्राप्त हुई है। शृङ्गार-भावना भी छायावाद में एक नवीन रूप में प्राप्त होती है। कहीं तो प्रकृति में सुन्दरी का आरोप कर उसकी विविध लीलाओं का वर्णन किया जाता है, कहीं स्थूल के बाह्य सौंदर्य का वर्णन कर कलित कल्पना के द्वारा कलाकार अपनी भावनाओं को मूर्त रूप में उपस्थित करता हुआ उसके सौंदर्य और शृङ्गार का वर्णन करता है। इस प्रकार कल्पित प्रियतम की वास्तविक अनूभूति का वर्णन किया जाता है। यह प्रवृत्ति रीतिकालीन स्थूल शृङ्गार के कुत्सित वर्णन की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई। यही कारण है इसमें वस्तुओं के सूक्ष्म भावमय रूपों के सौंदर्य और शृङ्गार का वर्णन हुआ है। छायावाद ने विश्वजीवन के चिरंतन सूक्ष्म सौंदर्य-चित्रों को अपनी भावनाओं से अनुप्राणित कर सजीव प्रत्यक्ष रूप में चित्रित किया है। महादेवी जी की कलाकृतियों में भी इसी सरणी का अनुसरण किया गया है।

(४) शृङ्गार, करुण और शांत रसों का परिपाक छायावाद की एक अन्य विशेषता है, महादेवी जी यद्यपि करुणा की साक्षात् मूर्ति हैं फिर भी उनकी रचनाओं में शृङ्गार और शान्त रस की कोई कमी नहीं है।

(५) छायावादी कवि कल्पना के पंखों पर उड़ता हुआ कभी-कभी तो इस लोक से बहुत ऊपर उठ जाता है। महादेवी जी की कल्पनाएँ भी सुन्दर, सजीव और समर्थ होती हुई भी अत्यन्त गम्भीर हैं। कहीं-कहीं वे इतनी गम्भीर हो उठी हैं कि सहज बोधगम्य नहीं रहीं।

(६) प्रतीक-पद्धति छायावाद की एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता है। सामान्य शब्दों में जिसे हम 'रूपक उपमान' कहते हैं, साहित्यिक

या प्रकृति के पदार्थ-मात्र में अपनी-सी आत्म-सत्ता को व्यक्त पाकर उनके साथ घुल-मिल जाता है। महादेवी की कविताएँ भी सृष्टि के अणु-अणु में उस अज्ञात प्रियतम के साक्षात्कार की भावनाओं से भरी हुई हैं। उनके गीतों के आलम्बनस्वरूप वह प्रियतम-प्रियतमा, प्रिय-प्रेयसी दोनों ही अलौकिक ही हैं। छायावाद की शैली प्रायः प्रतीकात्मक, लाक्षणिक, अभिव्यञ्जनात्मक और चित्रमयी होती है। महादेवी जी की शैली में ये सब विशेषताएँ स्वतः उपलब्ध हैं। उनके काव्य में व्यक्तिगत एवं समष्टिगत दोनों प्रकार की भावनाएँ प्रकट हो रही हैं।

छायावाद की विशेषताओं का निम्न भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) भावमयता—छायावाद की कविता द्विवेदी-युग की इति-वृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप प्रकट हुई है, अतः इसमें स्थूल का बहिष्कार कर सूक्ष्म भावात्मक वर्णन को स्वीकार किया जाता है। यह सूक्ष्म चित्रण की प्रणाली इसकी प्रथम विशेषता है। महादेवी जी की कविताओं में भावों की अन्तःस्पर्शिता, सूक्ष्मता, गम्भीरता और विशदता अपने परिपूर्ण रूप में प्राप्त होती है।

(२) प्रकृति—छायावाद में प्रकृति का सजीव वर्णन होता है। कलाकार प्रकृति को जड़ न मान कर अपने ही समान चेतन समझते हुए उसे मानवीय भावनाओं का रङ्ग देकर चित्रित करता है। वह प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता का उपासक होता है; इसीलिए उसके सुख-दुःखों को स्वयं अपने में ढाल कर इस प्रकार वर्णन करता है मानो वे कवि के अपने ही सुख-दुःख हैं। महादेवी जी की कविताओं में, प्रकृति में मानव-व्यापारों का सुन्दर सजीव आरोप हुआ है, इसमें संदेह नहीं। इस सम्बन्ध में महादेवी जी ने स्वयं लिखा है कि छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन

कुछ उदाहरणों में देखिए :—

प्रिय मेरा निशीथ नीरवता में आता चुपचाप
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पदचाप
मुस्काता संकेत-भरा नभ, अलि क्या प्रिय आने वाले हैं!
विद्युत् के चल स्वर्ण-पाश में बँध हँस देता रोता जलधर;
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर
दिन निशि को, देती निशि दिन को कनक-रजत के मधुप्याले हैं!
मोती बिखराती नूपुर के छिप तारक-परियाँ नर्तन कर
हिम-कण पर आता जाता मलयानिल परिमल से अञ्जलि भर,
सघन वेदना के तम में सुधि जाती सुख सोने के कण भर,
आज आँसुओं के कोषों पर स्वप्न बने पहरे वाले हैं!
नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रहे कैसी उलझन!
रोम रोम में होता री सखि, एक नया उर का सा स्पन्दन
पुलकों से भर फूल बन गये जितने प्राणों के छाले हैं!

क्या पूजा क्या अर्चन रे!
उस असीम का सुन्दर मन्दिर, मेरा लघुतम जीवन रे!

महादेवी जी के काव्य में भाव, कल्पना और सूक्ष्मानुभूति आदि छायावाद की तीनों प्रमुख विशेषताओं की पूर्ण सत्ता उपयुक्त आधार पर मिलती है। यह काव्यगत अनुभूति और कल्पना यत्र-तत्र शुष्क दार्शनिकता या विचारात्मकता के कारण जटिल हो गई हैं, किन्तु फिर भी ये दोनों ही महादेवी-काव्य की अत्यन्त प्रमुख विशेषताएँ हैं, जो अनुभूति की प्रधानता का परिवहन किये हुए हैं। महादेवी जी की अनुभूति मीरा के समान ही गहन है, अनन्त है, सत्य है एवं अपनी स्वयं की व्यक्तिगत है, अतः उसमें उतना ही माधुर्य एवं संगीत भी वर्तमान है।

महादेवी वर्मा की काव्य-धारा में करुण भावना या वेदना की टीस की अनुभूति की एक प्रधान विशेषता है। करुणा की एक सूक्ष्म किन्तु

भाषा में उसे 'प्रतीक' कहा जाता है। अथवा यों कहें कि उपमेयों का वर्णन न करके केवल उपमानों का वर्ण करना, जैसा कि रूपकातिशयोक्ति अलंकार में प्रायः रहता है, आधुनिक काव्यों में 'प्रतीक' के नाम से प्रसिद्ध है। महादेवी जी ने भी इस प्रतीक-पद्धति को पर्याप्त रूप में अपनाया है। 'आनंदोल्लास' के लिए 'उषा', 'प्रफुल्लता' के लिए 'मुकुल', एवं 'सौंदर्य-स्निग्धता' के लिए 'चांदनी' के प्रयोग प्रायः किये जाते हैं।

(७) मूर्तामूर्त-विधान—निराकार वस्तुओं को साकार रूप और साकार को निराकार के रूप में उपस्थित करना ही 'मूर्तामूत-विधान' कहलाता है। महादेवी जी की कविताओं में यह विशेषता भी सम्यग्-रूप में उपस्थित है।

(८) मानवीकरण भी इस छायावाद की एक अन्यतम विशेषता है। प्रकृति को मानव के रूप में अंकित किया जाता है। प्रायः उसे सुन्दरी नायिका का रूप दिया जाता है। महादेवी जी की रचनाओं में मानवीकरण की प्रवृत्ति भी अपना प्रमुख स्थान रखती है।

(९) लाक्षणिक प्रयोगों की भरमार भी छायावाद की अपनी विशेषता है। 'गान का सिसकना', 'वेदना का कसकना', 'अभिलाषा का करवट लेना' आदि ऐसे ही लाक्षणिक प्रयोग हैं, महादेवी जी ने इन्हें भी पर्याप्त रूप से अपनाया है।

(१०) अभिनव छन्दों का प्रयोग भी छायावाद की एक अन्यतम विशेषता मानी जाती है। तदनुसार महादेवी जी ने भी पुराने छन्दों को हटाकर नवीन छन्दों का प्रयोग किया है।

(११) आध्यात्मिक प्रियतम को आलंबन मानकर उसकी अनुभूति की विशेषता भी महादेवी जी की कविताओं में प्रमुख रूप से लक्षित होती है। छायावाद की शैली का इसे आन्तरिक तत्त्व (वर्ण्य विषय) कहा जाय अथवा रहस्यवाद। यह विशेषता तो महादेवी जी के काव्य में विशेष रूप से उपलब्ध है।

तभी से कवयित्री उसके विरह में व्याकुल होती हुई बिलख-बिलख कर रो रही है। रोते-रोते उसके आँसू भी समाप्त-से हो गये हैं—

उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते।
आँखों के कोश हुए हैं मोती बरसा कर रीते।

क्योंकि यह पीड़ा उसे अपने प्रियतम से ही प्राप्त हुई है, इसीलिए उसके लिए यह अत्यन्त मधुर मादकता प्रदान करने वाली हो गई है। यही कारण है कि वह उसी में लीन हो जाना चाहती है, वह कहती है—

तुम अमर प्रतीक्षा हो मैं पग विरह-पथिक का धीमा।
आते जाते मिट जाऊँ पाऊँ न पन्थ की सीमा॥

इतना सब कुछ होते हुए भी उसका यह प्रियतम अज्ञात और अलक्ष्य ही है। उसे स्वयं भी यह पता नहीं कि वह कैसा है। उसकी अस्पष्टता के कारण ही विरह-पीड़ा भी अनन्त है। इसीलिए वह प्रियतम तक पहुँचने की अपेक्षा उसकी पीड़ा के पथ में ही अपने-आपको परिवर्तित कर देना चाहती है। क्योंकि उसके मिलन होते ही आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता उसी में समा जायगी (फलतः उसकी पीड़ा का भी अन्त हो जायगा), यही उसे सह्य नहीं है। वह कहती है—

वह सुनहला हास तेरा अंक उर घन-सार-सा।
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा।

कवयित्री को इस पीड़ा से इतना प्रेम हो गया है कि वह इसके बदले में स्वर्ग का सुख भी नहीं चाहती—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव अरे! यह मेरा मिटने का अधिकार॥

यद्यपि उनकी करुणा में एक दिव्य संयम समाया हुआ है, फिर भी करुणा का जैसा गम्भीर प्रवाह महादेवी जी की कला में पाया जाता है वैसा किसी दूसरे कवि की कविता में नहीं मिलता।

व्यापक दिखाई देने वाली वेदना का इनके काव्य में बड़ा ही विशद वर्णन है। महादेवी जी के हृदय में वेदना का अंकुर ऐसा लगा है कि उनके स्वभाव में वेदना का एक भाव ही निहित हो गया। वेदना से कवयित्री जी को प्रेम है। उनकी रचनाओं का आरम्भ ही करुण-रस से हुआ है। सर्वप्रथम आपने एक करुण कहानी सौ छन्दों में लिखी थी। तदनन्तर यह करुण वृत्ति विकसित होती गई और अंत में वह एक वाद के घेरे से आवृत हो गई। यह करुण भावना कवयित्री की अधिकांश रचनाओं में अनेक सुन्दर एवं मधुर रूपों में चित्रित मिलती है। उत्तरोत्तर यह करुण भावना विस्तृत एवं विकसित होती हुई व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होती गई है। व्यक्तिगत भावनाओं ने विश्वगत करुण भावनाओं का रूप धारण किया। करुणा की ऐसी अजस्र धारा अन्यत्र दुर्लभ ही है। फिर भी यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि किसी की मृत्यु आदि आलम्बनोद्दीपन से उद्बुद्ध शोक स्थायिभावात्मिका करुणा से यह करुणा भिन्न हैं जो जन्म-जन्मान्तरों से चली आ रही है—उस अनन्त अज्ञात प्रियतम के विरह में कवयित्री का अन्तर् व्याकुल हो रहा है और वह उसी में तल्लीन हो गई है। ऐसी दिव्य करुणा ही उसके जीवन का संबल सिद्ध हो गई है। वह अपनी उस दिव्य विरह-वेदना को चिरस्थायी रूप में अपना लेना चाहती है। उस पीड़ा में भी उसे एक अनुपम मिठास प्रतीत होती है, इसीलिए वह कह उठती है—

पर शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की पीड़ा।
तुम को पीड़ा में ढूँढा तुम में ढूँढूँगी पीड़ा॥

इस प्रकार उसे अपने में और प्रिय में सर्वत्र उस अनुपम पीड़ा की प्रतीति होने लगती है। यह विरह-वेदना प्रियतम की एक झलक से उद्भूत हुई है—

इन ललचाई पलकों पर पहरा था जब व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का॥

नीहार—यह सन् १९३० में प्रकाशित हुआ था। यूँ तो महादेवी जी सन् १९२६ से ही 'चाँद' में अपनी रचनाएँ देती रहती थीं, पर 'नीहार' के प्रकाशित होते ही हिन्दी-जगत् का ध्यान महादेवी जी की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गया। इसकी अधिकांश कविताएँ २८-२९ में लिखी गई थीं। इसमें 'मुरझाया फूल', 'उस पार', 'कहाँ', 'स्मृति', 'आँसू की माला', 'मोल', 'सूना सन्देश', 'आँसू', 'विसर्जन', 'उनका प्यार', 'खोज', 'मेरा राज्य' और 'वरदान' शीर्षक कविताएँ संकलित की गई हैं। इस काव्य की विशेषता यह है कि इसमें वैयक्तिक स्वर स्पष्ट रूप से मुखरित हुए हैं। यहाँ वैयक्तिक दुःखवाद और अध्यात्मवाद का विचित्र सामंजस्य है। 'मेरा राज' में तो निश्चय ही प्रसाद जी के आँसू छन्द में कवयित्री के स्वप्न-संसार के लुट जाने की कथा कही गई है। इसकी कुछ पंक्तियाँ बड़ी मार्मिक हैं—

इन ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीड़ा का
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का
उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते
आँखों के कोष हुए हैं मोती बरसा कर रीते
अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली!

'नीहार' की कविताएँ यद्यपि इतनी स्पष्ट नहीं हैं जितनी कि परवर्ती कविताएँ, तथापि उनके भाव बीज-रूप में यहाँ मिलते हैं। इसकी कविताएँ भाव-प्रधान न होकर विचार-प्रधान ही हैं। इसकी भूमिका में हरिऔध जी ने लिखा था—"ग्रन्थ की भावुकता और मार्मिकता उल्लेखनीय है। उसका कोमल शब्द-विन्यास भी अल्प आकर्षक नहीं। मैं श्रीमती महादेवी वर्मा का हिन्दी-साहित्यक्षेत्र में सादर अभिनन्दन करता हूँ और उनसे यह विनय भी कि उनकी हृत्तंत्री की

मीरा जी की विरह-वेदना और महादेवी जी की विरह-वेदना में पर्याप्त अन्तर है। मीरा की करुण भावना में वैयक्तिक अनुभूति ही का प्राधान्य है, उसकी अपनी ही अन्तर् की पीड़ा का प्रकटीकरण उसकी कला में हुआ है। उसमें सरलता, स्वाभाविकता व सजीवता आदि सब कुछ होते हुए भी मीरा की विरह-वेदना किसी निश्चित चिन्तन-पद्धति का अंग नहीं है। इसके विपरीत महादेवी की करुणा एक रहस्यवादी करुण भावना है। वह करुणा ऐसी स्वाभाविक है कि जीवन के साथ ही उसका प्रारम्भ हुआ है—

विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात।

इस सम्बन्ध में कवयित्री ने स्वयं लिखा है कि "जीवन के इतिहास में पशुता से पशुता की, कठोरता से कठोरता की और बुद्धि से बुद्धि की पराजय नहीं हुई है। इसीलिए परीक्षित सिद्धान्त की जैसी नयी कसौटी हम चाहते थे वैसी लेकर हमारा ध्वंस-युग आया है। इसके ध्वंसावशेष में निर्माण-कार्य मनुष्य के करुणा और भावनामूलक विश्वास से ही हो सकेगा, यह मैं नहीं भूलना चाहती।"

महादेवी जी के वेदनावाद का निर्माण इसी सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। अतः उनके काव्य में करुण भावना या वेदना की जैसी मधुर और सुन्दर अभिव्यञ्जना है वैसी हिन्दी की अन्य किसी भी कवयित्री में प्राप्त नहीं होती। इन्हीं सब बातों को देखते हुए श्रीमती महादेवी वर्मा को करुणा की सब से बड़ी कवयित्री कहा जाता है।

महादेवी जी की सम्पूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित पाँच संकलनों में संगृहीत हैं—

(१) नीहार, (२) रश्मि, (३) नीरजा, (४) सांध्यगीत, (५) दीपशिखा। इनमें आई हुई सब कविताओं को बाद में 'यामा' नामक एक बड़े संग्रह में संकलित कर दिया गया। यहाँ पर इन सब रचनाओं की संक्षिप्त समीक्षा की जाती है।

प्रिय मेरा निशीथ-नीरवता में आता चुपचाप;
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पदचाप;
सुभग ! यह पल घड़ियाँ अनमोल !
हठीले हौले हौले बोल !
वह सपना बन-बन आता जागृति में जाता लौट;
मेरे श्रवण आज बैठे हैं इन पलकों की ओट;
व्यर्थ मत कानों में मधु घोल !
हठीले धीरे-धीरे बोल !

निर्गुण-विरह-मिलन के गीतों में ऐसे अपूर्व माधुर्य एवं सौन्दर्य का संचार कर देना महादेवी जी की मधुर अनुभूति एवं कुशल कल्पना का ही कार्य है। इस विरह-मिलन की कविताओं के अतिरिक्त कुछेक तल-स्पर्शी प्रकृति के चित्र भी 'नीरजा' में अंकित हुए हैं—

मर्मर की सुमधुर नूपुर-ध्वनि;
अलि-गुंजित पद्मों की किंकिणि;
भर पद गति में अलस तरंगिणि;
तरल रजत की धार बहा दे
मृदु स्मित से, सजनी !
विहँसती आ बसन्त-रजनी !

इस कविता में वसन्त-रजनी को अभिसारिका के रूप में चित्रित किया गया है। कल्पनाधिक्य के कारण महादेवी के प्रकृति-चित्र असाधारण हो उठते हैं। प्रकृति का ऐसा विराट् फिर भी ऐसा सहज रूप अन्यत्र शायद ही कहीं मिल सके।

निखिल दिङ्मण्डल में व्याप्त वर्षा-सुन्दरी का एक चित्र देखिए, जिसने जगत्-शिशु को अपनी गोद में ले रखा है—

रूपसि ! तेरा घन - केश - पाश
श्यामल श्यामल कोमल कोमल

अपूर्व झङ्कार में भारतमाता के कण्ठ की वर्तमान ध्वनि भी श्रुत होनी चाहिए।"

रश्मि—इसमें सन् १६२० से २२ तक की कविताएँ संकलित हैं। इस संग्रह में कवयित्री की दृष्टि अपनी ओर कम और वाहर की ओर अधिक है। वह अनेक गम्भीर प्रश्नों पर विचार करने लगती है। यह भी एक चिन्तन-प्रधान काव्य है, इसलिए इसमें भी काव्यत्व यथेष्ट परिमाण में नहीं मिलता। जीवन क्या है? मृत्यु क्या है? जीव क्या किसी अखण्ड और चिन्मय सत्ता का अंश और मूलतः आनन्दमय है? यह सुख-दुःख क्यों हैं? जरा-मृत्यु का मनुष्य के पास क्या समाधान है? मनुष्य किस प्रकार उस अखण्ड चिन्मय की अनुभूति प्राप्त कर सकता है?—आदि प्रश्नों पर वेद और उपनिषद्-काल के ऋषियों से लेकर कबीर तक के विचारकों ने विचार किया है। महादेवी जी ने सर्वप्रथम हमारे समक्ष इस युग में इन प्रश्नों को उपस्थित करते हुए, इन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की। उनके उत्तर यद्यपि नये नहीं हैं, तथापि उनकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का प्रकार सर्वथा मौलिक एवं हृदयहारी है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

नीरजा—वास्तव में यह पहला संग्रह है जिसमें चिन्तन के स्थान पर अनुभूति अभिव्यक्त हुई है। अब उनका काव्य काव्य न रह कर साधना बन गया है। जीव-मृत्यु, सुख-दुःख और संसार की विषमताओं का चिन्तन करते हुए कवयित्री ने जिन विचार-रत्नों का संग्रह किया है, वे मस्तिष्क से निकल कर अब हृदय की निधि बन गये हैं। इसीलिए अब उनके काव्य में वैसी अस्पष्टता नहीं रही। प्रिय-विरह उनके काव्य का मुख्य सन्देश है। मिलन के प्रभात से उन्हें वियोग-यामा अधिक प्रिय है। इसीलिए 'नीरजा' की कविताओं पर विरह-व्यथा की घटा छाई हुई है। वह काकली की तान अलापती हुई कोकिल से कहती है—

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?
शशि के दर्पण में देख-देख,
मैंने सुलझाये तिमिर-केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात,
अवगुंठन कर किरणों का अशेष;
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?

आधुनिक विज्ञान जिन रहस्यों को उद्घाटित करने में असमर्थ रहा है, महादेवी जी ने उन्हीं को अपना प्रिय विषय बनाया हुआ है। अद्वैत की अनुभूति प्राप्त हो जाने पर साधक सर्वत्र जीवन की अनन्त सत्ता को व्याप्त देखता है। नाश भी निर्माण ही का दूसरा नाम सिद्ध होता है। जिस अखण्ड सत्ता के हम अंश हैं उसे पहिचानना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। प्रकृति के अनेक रूपों में व्याप्त एकता और अखण्डता भी उस प्रीतम की ओर ले जाने में हमारी सहायता करने लग जाती है। प्रतीत होता है कि प्रकृति अपने अनेक रूपों से उस प्रियतम को प्राप्त करने का ही प्रयत्न कर रही है। इसीलिए महादेवी जी ने अपने पर प्रकृति के अनेक रूपों का आरोप किया है। एक स्थान पर वह कहती हैं—

प्रिय सान्ध्य गगन
मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग
छाया-सी काया वीतराग,
सुधि-भीने स्वप्न रँगीले घन !

कहीं वह वर्षा की बदली से अपने जीवन की तुलना करते हुए कहती हैं—

लहराता सुरभित केश-पाश !

....

सौरभ-भीना झीना गीला
लिपटा मृदु अञ्जन सा दुकूल;
चल अञ्चल से झर-झर झरते
पथ में जुगनू के स्वर्ण फूल;
दीपक से देता बार बार
तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास !
रूपसि ! तेरा घन-केश-पाश !

अन्त में वह इस विराट् पावस की मातृ-मूर्त्ति से प्रार्थना करती हैं—

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन
पुलकित अङ्कों में भर विशाल;
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल,
दुलरा देना बहला देना
यह तेरा शिशु जग है उदास !
रूपसि ! तेरा घन-केश-पाश !

सांध्यगीत—इसका प्रकाशन सन् १९३६ में हुआ था। इसमें कला, अनुभूति और साधना की त्रिवेणी का संगम हो गया है। यहाँ मिलन और विरह के गीतों की ही प्रधानता है, 'नीरजा' के समान विषयों की विविधता नहीं। प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में भी रहस्यवादी प्रिय-चिन्तन ही अभिव्यक्त हो रहा है।

यहाँ तक कि उसके साथ सारी प्रकृति अपने आराध्य के लिए तप कर रही है या रिझाने में लगी हुई है—

निहित है। स्थूल जगत् की अपूर्णता से विक्षुब्ध होकर अव्यक्त पूर्णता को खोजने वाली आत्मा सदैव विरहित रही है। इसी से हम उन्हें दुःखवादी दर्शन में निमज्जित पाते हैं।

महादेवी का प्रियतम 'अलबेला' है। प्रकृति के प्रत्येक प्रान्त से छवि, सौन्दर्य और अमृत लाकर वह उससे अपने आराध्य का शृंगार करती हैं। उनका विरह और मिलन, उनका आह्वान और प्रत्याख्यान, उनका औत्सुक्य और नैराश्य लोकोत्तर होने के साथ पवित्र भावना-प्रसूत है। अव्याहत द्रष्टा की अन्तर्मुखी साधना में लीन रहने के कारण उनका क्षेत्र ऐकांतिक व्यक्तिगत साधना का है। महादेवी के गीत-काव्य का हिन्दी के काव्य-साहित्य में सर्वप्रथम स्थान है। इस दिशा में वह बेजोड़ हैं। उनके गीतों में निर्जन-वन-प्रदेश में बहती हुई एकाकिनी शैवालिनी का-सा मन्द-मन्द प्रवाह है। उनके गीतों में वेदना और कसक की सघनता, तल्लीनता, मधुर संगीत एवं शब्द-चित्र अत्यन्त सराहनीय हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में एक निश्चिन्त निर्द्वन्द्व नारी-कण्ठ की विरह-विह्वल वाणी पाठकों को तुरन्त आत्मीय बना देती है। आत्म-निवेदन एवं आत्म-विस्मृति के भाव उनके भावों में भरे हुए मिलते हैं। पर इतना होते हुए भी उनकी एकरसता कुछ खटकती-सी है। भावों की विविधता उनके गीतों में नहीं है। प्रायः एक-से रूपकों की आवृत्ति भी हुई है। लोक के प्रति भी वह उदासीन हैं। उनके गीतों का क्षेत्र व्यापक नहीं, सीमित है।~~यह~~ उनकी विशेषता भी है और दोष भी। विशेषता इसलिए कि एक सीमित क्षेत्र के भीतर उन्होंने अपनी अनुभूतियों को जिस प्रकार चित्रित किया है वह श्रेष्ठतम है, और दोष इसलिए है कि वह लोक-भावना को व्यक्त करने से वञ्चित रह गई हैं।

भाषा के क्षेत्र में भी महादेवी बेजोड़ हैं। भाषा की शुद्धता जैसी उनकी रचनाओं में मिलती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत-गर्भित होने पर भी उनकी भाषा में सरलता, प्रवाह और माधुर्य है। भाव, भाषा

मैं नीर-भरी दुख की बदली !
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा ,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा ,
नयनों में दीपक-से जलते
पलकों में निर्झरणी मचली !

दीप-शिखा—इसका प्रकाशन सन् १९४२ में हुआ। इसमें महादेवी जी की कलात्मक साधना परमोज्ज्वल रूप में प्रकट हुई है। 'दीप-शिखा' में कवयित्री के सन्देह और अविश्वासों का स्थान दृढ़-विश्वास ने ले लिया है। अब उन्हें प्रिय की प्रतीक्षा नहीं है, क्योंकि उन्होंने विरह ही में अपने प्रियतम को पा लिया है। इन गीतों में कवयित्री के कथनानुसार (१) पराविद्या की अपार्थिवता, (२) वेदान्त का अद्वैत, (३) लौकिक प्रेम की तीव्रता, (४) कबीर का सांकेतिक दाम्पत्य भाव, (५) सूफ़ीमत की प्रेम-जनित आत्मानुभूति और चिरंतन प्रियतम का विरह, (६) प्रकृति के अनेक रूपों में एक मधुर व्यक्तित्व का आरोपण—नवीन रहस्यवाद के इन छहों तत्त्वों की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हुई है।

इसके साथ ही (१) ऋग्वेद के मरुत और उषा के भावना-प्रधान गीत, (२) उपनिषद् का रहस्य-ज्ञान, (३) बुद्ध का क्षणिकवाद और दुःखवाद, (४) कबीर का काव्य, (५) भवभूति की 'एको रसः करुण एव' तथा (६) कालिदास का काव्य और उसकी ऐश्वर्य-माधुर्य-प्रधान पृष्ठभूमि कवयित्री के विशेष प्रिय विषय रहे हैं। अतः इनके गीतों पर इन सबका सम्मिलित प्रभाव भी स्पष्ट ही है।

महादेवी के सम्बन्ध में यह सत्य ही कहा गया है कि हिन्दी के आधुनिक युग में महादेवी स्वर्गीय गीतों की श्रेष्ठतम गायिका हैं। अपने गीतों में वह वेदना की प्रधान उपासिका के रूप में प्रकट हुई हैं। 'स्थूल' को छोड़कर 'सूक्ष्म' की ओर वह प्रवृत्त हुईं, पर उनका 'सूक्ष्म' जीवन का वह 'सूक्ष्म' है जिसमें संवेदनशील जीवन का दिव्य सत्य

और संगीत की त्रिवेणी उन्हीं की रचनाओं में प्रवाहित हुई है। उनका शब्द-चयन अत्यन्त शिलष्ट, सुन्दर और भावानुकूल होता है। उनके शब्द और अर्थ सम्पूर्ण कविता में एक-दूसरे से पूर्ण साहचर्य रखते हैं। उनकी जैसी सुन्दर और संयत भाषा आजकल किसी की रचना में नहीं मिलती।

महादेवी जी के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा गया है—

"महादेवी हिन्दी की सांस्कृतिक कवयित्री हैं। कविता के क्षेत्र में 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्य-गीत' और 'दीप-शिखा' देकर, संस्मरण के क्षेत्र में 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' देकर, विचार के क्षेत्र में 'शृंखला की कड़ियाँ' और 'विवेचनात्मक गद्य' देकर उन्होंने हिन्दी-जगत् के सामने कवि, कहानीकार, निबन्ध-लेखिका और आलोचक के रूप में आकर अपनी साहित्य-साधना का परिचय दिया है। इधर वेदों के विशिष्ट अंशों का अनुवाद भी उन्होंने आरम्भ किया है और इस प्रकार वह एक सफल अनुवादिका भी सिद्ध हो रही हैं। वह अभी हमें क्या देंगी यह तो भविष्य के गर्भ में है, पर अब तक उन्होंने जो-कुछ हमें दिया है वह हमारी भाषा और हमारे साहित्य के लिए कल्याणप्रद है।"